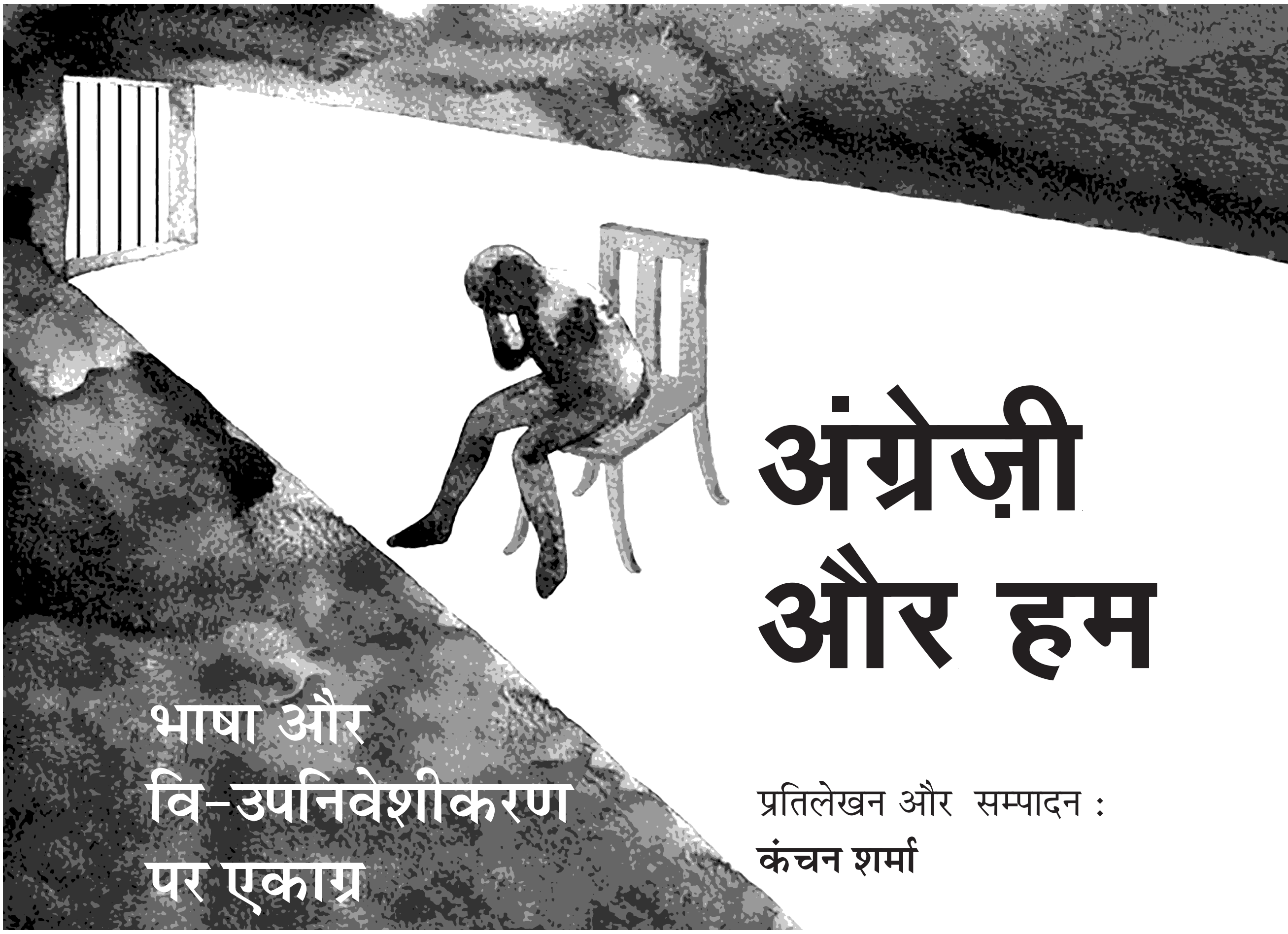


अंग्रेज़ी और हम

भाषा और वि-उपनिवेशीकरण पर एकाग्र

प्रतिलेखन और सम्पादन :
कंचन शर्मा

इस परिसंवाद में हुई चर्चा के शुरुआती अंश में आदित्य निगम, श्रीश चौधरी, हृदयकांत दीवान, प्रबाल दासगुप्ता, प्रथमा बनर्जी, राकेश पाण्डेय, अभय कुमार दुबे, हिलाल अहमद, सतेन्द्र कुमार, राजकुमार, वीणा नरेगल, मुकुल प्रियदर्शिनी, बैदिक भट्टाचार्य, सतीश देशपाण्डे, कंचन शर्मा, ज्योति दिवाकर और राधावल्लभ त्रिपाठी ने भारत में अंग्रेज़ी भाषा के वर्चस्व के इतिहास पर विचार करते हुए कुछ ऐसे प्रश्नों की पड़ताल की जो आम तौर से भारत की भाषा समस्या पर होने वाली बहसों में अनछुए रह जाते हैं। ये प्रश्न हैं : क्या भारत में अंग्रेज़ी का प्रचार-प्रसार महज़ इसलिए हुआ कि वह अन्य भाषाओं के मुक़ाबले विशेष रूप से 'अर्थकारी' भाषा थी और है? क्या अंग्रेज़ी के औज़ार के ज़रिये उपनिवेशवादियों ने भारतवासियों के आत्म की संरचना को बदल डाला? अंग्रेज़ी के बाद की दुनिया में भारतीय भाषाओं की संरचना में किस तरह के परिवर्तन हुए? क्या अंग्रेज़ी और पश्चिमी ज्ञान से स्वायत्त ज्ञान-रचना सम्भव रह गयी है?



अभय कुमार दुबे : भारत में अंग्रेज़ी भाषा का इतिहास लिखा जा चुका है। अंग्रेज़ी साहित्य के इतिहास पर तो काफ़ी दिलचस्प और विचारोत्तेजक शोध हो चुका है। आज की चर्चा का विषय अंग्रेज़ी का वर्चस्व है जिसके इतिहास को लिखने और उसकी समझदारी विकसित करने की कोशिश हो रही है। इसी संबंध में इस परिसंवाद की शुरुआत में मैं दो बातें कहूँगा जिनसे मेरे इरादे और इस चर्चा से मेरी अपेक्षा पर रोशनी पड़ेगी।

एक किताब 1838 में लिखी गयी थी। इसके लेखक थे चार्ल्स ट्रेविलियन। मैकॉले के बहनोई थे। साथ ही ईस्ट इंडिया कम्पनी के तहत भारत में जो शिक्षा-व्यवस्था चलाने वाली जरनल कमेटी फ़ॉर पब्लिक इंसट्रक्शन (जीसीपीआई) की प्रमुख हस्ती भी थे। बाद में मद्रास के गवर्नर भी हुए और भारत में सिविल सर्विस रिफ़ार्मर की भूमिका भी निभायी। ट्रेविलियन की पुस्तक का शीर्षक था *ऑन द एजुकेशन ऑफ़ इंडियन पीपुल*। मैकॉले ने अपनी शिक्षा संबंधी टिप्पणी में जो कुछ कहा था, उसे तो हम सब लोग जानते ही हैं। ट्रेविलियन ने इस पुस्तक में जो कहा, उसे कम लोग जानते हैं। ट्रेवेलियन कहते हैं : मुझे इस बात पर पक्का यक़ीन है कि भारत और अंग्रेज़ों के संबंध हमेशा क़ायम नहीं रहने वाले हैं। देर-सवेर भारतवासियों में राष्ट्रवाद की भावना पैदा होगी। वे अपनी आज़ादी के लिए संघर्ष करेंगे और हम लोगों को यहाँ से जाना पड़ेगा। प्रश्न इस बात का है कि हम लोगों के यहाँ से जाने की प्रक्रिया किस तरह की होगी। यदि हम लोग को क्रांति के ज़रिये धक्का दे कर यहाँ से निकाला गया तो हमारे और भारतवासियों के संबंध हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त हो जाएँगे। इससे हमारे और उनके बीच ऐसी सामाजिक-सांस्कृतिक विच्छिन्नता पैदा होगी जिसकी भरपाई कभी नहीं हो पाएगी। लेकिन अगर हम लोग सुधार की एक लम्बी प्रक्रिया के ज़रिये यहाँ से गये, तो इस दौरान हमें कोई सौ साल से ज़्यादा प्राप्त होंगे। इस दौरान हमें मौक़ा मिलेगा कि हम भारत का यूरोपीयकरण करें। हम यहाँ यूरोपीय क़िस्म की शिक्षा व्यवस्था लागू करें, यूरोपीय क़िस्म के संस्थान स्थापित करें। साहित्य का यूरोपीयकरण करें। इन लोगों को अपनी भाषा सिखाएँ, इन लोगों को अपना साहित्य पढ़ाएँ। इन लोगों को यूरोपियन तौर-तरीक़े, आचार-व्यवहार सिखाएँ और इनमें यूरोपीय चीज़ों के प्रति रुचि विकसित करें। अगर ऐसा करने के बाद हम यहाँ से गये, तो जाने के बाद भी हम इन लोगों के बीच हमेशा जीवित रहेंगे। दरअसल, उस सूरत में भारतवासियों को हमारे ख़िलाफ़ विद्रोह करने की ज़रूरत ही नहीं होगी। वे हमारे ख़िलाफ़ नहीं खड़े नहीं होंगे, बल्कि उन्हें हम झुक कर खड़ा होना सिखाएँगे।

जब मैं चार्ल्स ट्रेविलियन के ये लफ़्ज़ पढ़ रहा था तो मेरे दिमाग़ में सवाल पैदा हुआ : क्या चार्ल्स ट्रेविलियन जैसे लोग उन्नीसवीं सदी में भविष्य के भारत को कल्पित कर रहे थे, और मैं किस हद तक उस कल्पना का परिणाम हूँ? इस संवाद में भाग ले रहे विद्वानों के बारे में तो कुछ कहने की जुर्रत नहीं कर सकता, पर मैं अपनी गारंटी ज़रूर लेता हूँ कि मैं काफ़ी हद तक ट्रेविलियन जैसे उपनिवेशवादियों की कल्पनाशीलता की गढ़ंत हूँ। मैंने जब तक यह सब नहीं पढ़ा था तब तक अपनी बौद्धिक समझ को चुनौती देने की स्थिति में नहीं था। दरअसल, जितनी बुद्धि और ज्ञान मुझे थमाया गया था, मैंने ख़ुशी-ख़ुशी सब थाम लिया था और सब पर यक़ीन भी कर लिया था। मैं उसी ज्ञान और उसी बुद्धि के साथ अपना बौद्धिक जीवन गुज़ार रहा था। इस लिहाज़ से एक तो मेरी अपेक्षा यह है कि इस चर्चा में हम उस कल्पना, जो मैकॉले और ट्रेविलियन और दूसरे उपनिवेशवादियों में भी दिखाई पड़ती है, पर चर्चा करें। यह भी आकलन करें कि मेरे जैसा इंसान किस हद तक उस कल्पना का परिणाम है। या तो मैं उस साँचे में फ़िट होता हूँ, या फिर अगर अलग हूँ तो कितना अलग हूँ।

अब मैं आता हूँ अस्सी के दशक में जब आशिस नंदी ने अपनी शाहकार रचना *द इंटीमेट एनिमी* लिखी। आशिसदा इस किताब में उपनिवेशवाद की आलोचना करते हुए कहते हैं कि भारत के भीतर भी एक पश्चिम है। पर वे यह नहीं बताते कि वह कौन सा पश्चिम है। क्या वह पश्चिम हिंदुस्तान में

बाएँ से : ज्योति भारती, रविकांत, नरेश गोस्वामी, मनोज मोहन, अविनाश झा, प्रबाल दासगुप्ता, बैदिक भट्टाचार्य और प्रथमा बनर्जी.



'क्या चार्ल्स ट्रेवेलियन जैसे लोग उन्नीसवीं सदी में भविष्य के भारत को कल्पित कर रहे थे? ... मैं काफ़ी हद तक ट्रेवेलियन जैसे उपनिवेशवादियों की कल्पनाशीलता की गढ़ंत हूँ। ... जितनी बुद्धि और ज्ञान मुझे थमाया गया था, मैंने ख़ुशी-ख़ुशी सब थाम लिया ... मैं उसी ज्ञान और उसी बुद्धि के साथ अपना बौद्धिक जीवन गुज़ार रहा था। इस लिहाज़ से ... यह भी आकलन करें कि मेरे जैसा इंसान किस हद तक उस कल्पना का परिणाम है।'

वारेन हेस्टिंग्ज़ के पहले का पश्चिम है, या अंग्रेज़ों के आने के बाद का पश्चिम है? जब अंग्रेज़ों ने निश्चित किया कि अंग्रेज़ी शिक्षा देनी होगी, क्या यह तब का पश्चिम है? वे यह सब नहीं बताते, पर भारत के भीतर के इस पश्चिम को ग़लत भी नहीं बताते, और ऐसी छवि छोड़ते हैं कि यूरोप में आधुनिकता से पूर्व के पश्चिम से हमारा कुछ ताल्लुक़ बन सकता है। इसलिए, मैं यह भी जानना चाहता हूँ कि भारत के भीतर कौन-सा पश्चिम है। मैं आज की बातचीत में इन प्रश्नों पर चर्चा चाहता हूँ। पर यह मेरी निजी अपेक्षा ही है।



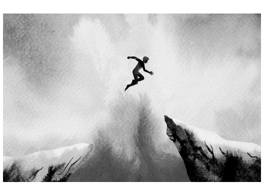
आदित्य निगम : तो अभय ने अपना नुक़्ता-ए-नज़र आपके सामने रख दिया है। जिस नज़रिये से वे वर्कशॉप के मुद्दे को देखते हैं, ज़रूरी नहीं कि हम उनसे इत्तेफ़ाक रखें। हम लोगों की कोशिश होनी चाहिए कि इस पर बेबाक बातचीत हो। ये बेहद उलझे सवाल हैं और इनके कई पहलू हैं। इनका इतिहास बहुत दूर तक जाता है, जिन्हें शायद नये सिरे से देखने-परखने की ज़रूरत है। वर्तमान के इतिहास का जो पहला विषय है, वह बहुत बड़ा है। हम कौन से वर्तमान की बात कर रहे हैं, किस वर्तमान की बात कर रहे हैं, किस वर्तमान का इतिहास कहाँ तक जाता है। ज़ाहिर है, हम अपनी सारी बात यहाँ समेट नहीं पाएँगे, तो अपनी बातचीत को विषय के इर्द-गिर्द ही रखें। लेकिन वह उस तरह से महदूद रहेगी नहीं। मान लीजिए अंग्रेज़ी का मसला या भाषाओं के संबंध-निर्माण का मसला हो, वह हमारे बौद्धिक काल में लगातार दिखाई देता है। मसलन, मैं राजनीतिक सिद्धांत न कह कर पॉलिटिकल थियरी

कहूँगा। बहुत सी टर्मिनोलॉजी है, जिसके हम कंज़्यूमर हैं, लेकिन ये लफ़्ज़ जहाँ बने हैं, उन कारख़ानों का हम हिस्सा नहीं हैं। इन हदों को बाज़ार में जहाँ छोड़ दिया जाता है, वहाँ से ले कर हम अपनी बात आगे बढ़ाते हैं। इसलिए हमारे पास नयी शब्दावली नहीं है। सोचने–समझने के अंदाज़ में अटपटापन लगता है। लेकिन, मैं यहाँ यह वकालत नहीं करूँगा कि अंग्रेज़ी को हटा कर सिर्फ़ भारतीय भाषा में सोचा जाए। मेरे ख़याल से इस वर्तमान की, जिसके इतिहास की हम बात करेंगे, इसकी जड़ बहुत दूर तक जाती है। और, दुनिया के अलग–अलग हिस्सों तक जाती है। इस दुनिया का वर्तमान हिस्सा अगर प्राचीन भारत तक जाता है, तो दूसरा हिस्सा फ़ारसी और अरबी दुनिया के साथ जुड़ा हुआ है, और तीसरा हिस्सा अंग्रेज़ी के साथ जुड़ा है।

अंग्रेज़ी दुधारी है। अंग्रेज़ी में जिसे कल्चर म्युटिलेशन कहा जाता है मैं यहाँ भी रखना चाहता हूँ उसे। विदेशी भाषा के थोपे जाने से पैदा होने वाले कल्चरल डिवीज़न को एमी सिज़ेयर ने म्युटिलेशन कहा है। वह अपनी जगह है। पर इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि सिर्फ़ दुनिया के साथ संवाद बनाने के लिए नहीं, बल्कि भारतीय भाषाओं के बीच संवाद बनाने के लिए भी आज हमारे पास अंग्रेज़ी के अलावा कोई ज़ुबान नहीं है।

यह भी सही है कि संस्कृत जब थी, तब वह सभी के बीच संवाद की गुंजाइश पैदा नहीं करती थी। आज हिंदी सिनेमा की वजह से हिंदी का प्रचार–प्रसार हुआ है, उससे एक लिंक–भाषा की गुंजाइश बन रही है। लेकिन जब तक वह पूरी तरह से नहीं बनती तब तक अंग्रेज़ी ही संवाद की भाषा है। इसलिए यह दुधारी तलवार है। इसका एक पहलू इन्होंने रखा। इससे मैं डरता हूँ। इससे एक रिज़ेंटमेंट (क्षोभ) वाली स्थिति बनती है और उससे मैं ख़ौफ़ खाता हूँ। मुझे लगता है हम लोगों का आज का पूरा वर्तमान उसी रिज़ेंटमेंट से निकला है। इससे एक पूरी शख़्सियत ही ढल जाती है, उसी में आप तमाम तरह की चीज़ों को ग्रहण करने की ज़मीन तैयार करते हैं। सच हो या झूठ हो, इससे कोई मतलब नहीं। जैसे, कह दिया जाता है कि मुसलमान एक दिन बहुसंख्यक हो जाएँगे। जैसे थोड़ी देर पहले मैं बता रहा था कि (उपेंद्र नाथ) मुखर्जी ने एक किताब लिखी कि *हिंदू इज़ अ डाइंग रेस*। और सवा सौ साल चलने के बाद भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा है दावेदारी में। पर यह सब जहाँ से पैदा होता है वह उस व्यक्तित्व का हिस्सा है। इसलिए मैं इसके दोनों पहलुओं से बच कर चलना चाहता हूँ। इस मायने में यह हमारे लिए अस्तित्व का सवाल है।

क्योंकि हमारा सवाल यहाँ भाषा, शब्दावली को लेकर है, इसलिए हमने निर्णय लिया है कि यहाँ संवाद की भाषा बाइलिंगुअल होगी। जहाँ तक ज़रूरत पड़ेगी टर्मिनोलॉजी के लिए अंग्रेज़ी का शब्द इस्तेमाल किया जा सकता है। इसे हम खुले दिल से स्वीकार करते हैं। हम मान कर चलते हैं कि हम प्रयोग के दौर से गुज़र रहे हैं, जहाँ हमें बहुत सी समस्याओं से भिड़ना होगा। नये सिरे से पैकिंग भी करनी होगी।



श्रीश चौधरी : यह एक ऐसा विषय है जिसका अध्ययन किसी एक ही विषय की चारदीवारी में रह कर किया नहीं जा सकता। मैं भाषा–विज्ञान का विद्यार्थी हूँ। हम घर में धोती पहनते हैं, बाहर निकलते हैं तो कुर्ता–पजामा पहन लिया, अंग्रेज़ी दफ़्तर गये तो कोट सिलवा लिया। मेरे दादाजी का कोट आज भी रखा है। वे दफ़्तर जाते थे तो पहन लिया करते थे। शुरू के जमाने में जो वकील हुए वे धोती पर ही कोट पहन लेते थे। दक्षिण में लोग पगड़ी भी पहन लेते थे, तिलक भी लगा लेते थे। धोती नीचे ज़रूर रखते थे। पैंट भी पहनने का हुक्म जब बाद में आया तो धोती पर ही पैंट पहन लेते थे। तो इस तरह की बात पोशाक में है, भोजन में है। राजाराममोहन राय और टैगोर के दो–दो ड्राइंग रूम और दो–दो किचन हुआ करते थे। एक ऊपर जहाँ सिर्फ़ ब्राह्मण (कुलीन ब्राह्मण) ही जा सकते थे। नीचे

बाएँ से : आदित्य निगम, अभय कुमार दुबे, राधावल्लभ त्रिपाठी, वीणा नरेगल, हृदयकांत दीवान (दोनों पीठ किये हुए) और श्रीश चौधरी



मनुष्य के जीवन में सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति अर्थ की होती है। जहाँ धन मिल रहा है, वहाँ स्वीकार है। ... पाँच हज़ार वर्षों तक रहने के बावजूद संस्कृत यह काम नहीं कर पायी। फ़ारसी बारह सौ वर्षों तक रही, लेकिन इतने दूर तक इतने लोगों में नहीं पहुँच पायी कि भारत की जनगणना विभाग के दस्तावेज़ बताते हैं जितना कि अंग्रेज़ी पहुँच गयी। अंग्रेज़ी को भारत में सबसे ज़्यादा प्राथमिकता वाली दूसरी भाषा का दर्जा है। ... यह किसी क़ानून के कारण नहीं। यह अर्थशास्त्र के कारण है।

फिरंगी भी जा सकते थे। लेकिन इनके साथ बैठ कर राजा राममोहन या टेगौर भोजन नहीं करते थे। यह जो अलग-अलग डोमेन की समझ है, भाषा में भी यही बात लागू होती है। हमारे घर की एक भाषा रही है, बाज़ार की एक, मित्रो की एक रही है। और सरकारी ख़लक़ की भाषा अरबी रही, बहुत दिनों तक बादशाह की फ़ारसी भाषा रही। जबकि फ़ारसी के नेटिव स्पीकर (नादिरशाह) शायद कुछ दिन रहे, पर उनकी भी फ़ारसी मूल भाषा नहीं थी। वे तुर्की या अरबी भाषी थे। लेकिन चूँकि ईरान से आये थे तो कह सकते हैं कि फ़ारसी भाषी थे। लेकिन फ़ारसी की इतनी विकसित शब्दावली थी कि मध्य एशिया से तुर्की तक जो भी आक्रमक या व्यापारी भारत में आठवीं से अठारहवीं शताब्दी तक आये फ़ारसी का ही प्रयोग करते रहे। मुग़ल भी अपने घर में तुर्की भाषा का प्रयोग करते थे। औरंगजेब तक अपने घर में तुर्की भाषा का ही प्रयोग करते थे, जबकि उर्दू का प्रचलन दिल्ली में हो गया था। तो इस पूरी बहस को अगर हम इस सवाल के साथ देखेंगे कि अंग्रेज़ी भारत पर लादी गयी या नहीं लादी गयी, तो शायद ठीक से समझ नहीं पाएँगे। मेरी राय में इसमें इतिहास, भाषा-विज्ञान, अर्थशास्त्र आदि को देखते हुए चलना होगा, तब हम बेहतर समझ पाएँगे।

भाषा किसी भी प्रकार के क़ानून से लादी नहीं जा सकती। ऐसा होता तो पुर्तगाली लोगों ने ऐसा कुछ भी नहीं छोड़ा जो क्रूरता के नाम पर किया जा सकता हो। अंग्रेज़ इस बारे में भिन्न थे। अंग्रेज़ों की जितनी अच्छी आलोचना अंग्रेज़ों ने की है उतनी हम ने भी अभी तक नहीं की। एडम स्मिथ ने कहा था, 'इंग्लैंड दूकानदारों का देश नहीं है बल्कि दूकानदारों द्वारा चलाया जा रहा देश है।' स्मिथ ने भाषा को भी धन का एक रूप माना था। आज इंग्लैंड को अंग्रेज़ी भाषा, साहित्य, परीक्षा-शुल्क,

ट्यूशन फ़ीस से लगभग बारह ख़रब पाउंड की आमदनी होती है। मैं तो जोड़ भी नहीं सकता कि अगर इसे रुपयों में बदला जाए जो कितना हो जाएगा। मुझे यह आँकड़ा इसलिए याद है कि मैं आईएफ़टीएल का सदस्य हूँ। मतलब, अंग्रेज़ी से उनकी इतनी अच्छी आमदनी है। आपने भी अभी ट्रेविलियन के हवाले से कहा। लेकिन, अंग्रेज़ों ने एक भी ऐसा क़ानून नहीं बनाया जिसमें कहा गया हो कि सभी भारतवासियों को अंग्रेज़ी में ही बोलना होगा।

पुर्तगालियों ने बोला कि जो शादी पुर्तगाल में नहीं उस शादी को मान्यता नहीं है। जो दस्तावेज़ पुर्तगाली भाषा में नहीं हैं, उनकी मान्यता नहीं। अंग्रेज़ जब स्वयं यहाँ आये तो पहले पुर्तगाली, और अंदर क्षेत्रों में फ़ारसी सीखी। 1839 तक उनकी भाषा फ़ारसी रही। लेकिन अच्छा लगे, या बुरा लगे— मनुष्य के जीवन में सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति अर्थ होती है। जहाँ धन मिल रहा है, वहाँ स्वीकार है। संस्कृत नहीं हो पाई उस स्तर तक, इतने दिनों तक रहने के बाद। प्राचीन इतिहास की मानें तो पाँच हज़ार वर्षों तक रहने के बावजूद संस्कृत यह काम नहीं कर पायी। फ़ारसी बारह सौ वर्षों तक रही, लेकिन इतने दूर तक इतने लोगों में नहीं पहुँच पायी, जितना कि भारत की जनगणना विभाग के दस्तावेज़ बताते हैं कि अंग्रेज़ी पहुँच गयी।

अंग्रेज़ी को भारत में सबसे ज़्यादा प्राथमिकता वाली दूसरी भाषा का दर्जा मिला हुआ है। यह किसी क़ानून के कारण नहीं। यह अर्थशास्त्र के कारण है। अंग्रेज़ों की पहली नीति यह थी कि हमें भारत में धर्म प्रचार के लिए काम नहीं करना। वास्तव में वे पोप की अनुमति के बिना आये थे। जब क्वीन एलिज़ाबेथ का जहाज़ 1619 में भारत पहुँचा तो पुर्तगालियों ने रोक कर पूछा कि क्या आपके पास पोप का चार्टर है? क्योंकि एलिज़ाबेथ के पिता ही क्रिश्चियन धर्म से निकल चुके थे। तो उनके कैप्टन हॉकिंस ने कहा कि हमारे पास आपसे ज़्यादा ताक़त वाले की पर्ची है। फिर उनमें थोड़ा युद्ध हुआ और अंग्रेज़ युद्ध-कला में ज़्यादा निपुण थे। युद्ध में विजय पाने के लिए वे कोई भी काम करने में हिचकते नहीं थे। उन्होंने पुर्तगाल को हराया और इतने शातिर थे वे कि शिवाजी ने जब सूरत को लूटा तो उन्होंने पुर्तगालियों को तो लूटा, पर अंग्रेज़ों को नहीं लूटा। अंग्रेज़ों की कोठी सुरक्षित रही, क्योंकि अंग्रेज़ों ने भारतीयों की मदद से अपना काम किया था।

अंग्रेज़ जब यहाँ आये तो 1629 में कुल मिला कर 286 लोग थे, बावर्ची वग़ैरह गिन कर। पादरी तो वे लाते नहीं थे। मर जाए कोई तो समुद्र में फेंक देते थे। शादी करनी होती थी तो एक आदमी पादरी बन जाता था, दूसरा दूल्हा और एक दुल्हन तो होती ही थी। और जब वे गये 14 अगस्त, 1946 को तो पूरे महाद्वीप (पाकिस्तान-भारत-बांगलादेश जोड़ कर) से 46,000 लोग गये। उस समय भी भारत की आबादी 34 करोड़ से ज़्यादा थी। सबसे ज़्यादा भाग्य की बात यह रही कि उन्होंने ऐसी नीति अपनाई जिसने भारत की सांस्कृतिक ढाँचे को कहीं कोई चुनौती नहीं दी। कहीं पर भी रुकावट पैदा नहीं की। जातिवाद है तो है, सती प्रथा है तो है, पानी इस कुएँ का नहीं पीना है तो नहीं पीना। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि वी हैव कम फ़ॉर कॉमर्स, ऐंड नॉट फ़ॉर क्रॉस। जबकि फ्रांसीसी, पुर्तगाली, डेनिश, जितने भी युरोपियन आये उनके लिए क्रिश्चियनिटी बड़ी चीज़ थी। इस कारण अंग्रेज़ों को भारत में बड़ा समर्थन मिला।

दूसरा कारण यह रहा कि औरंगजेब की मृत्यु के बाद 1707 से 1757 तक इस देश में कोई केंद्रीय शक्ति नाम की चीज़ नहीं रही। उस अराजकता के दौर में पहले अंग्रेज़ों के पास अपनी कोई फ़ौज नहीं थी। आप ... जो रिकॉर्ड है ईस्ट इंडिया कम्पनी का, उसे देखें तो पता चलेगा कि इनके पास अपने सिपाही नहीं थे। उन्होंने भारतीयों की मदद से अपनी फ़ौज बनाई और अपने व्यापार की रक्षा की। मथुरा से कानपुर जाना है, रास्ते में लूटपाट का अंदेशा है तो उससे बचने के लिए, ठगों से बचने के लिए जो वे फ़ौज बनाते गये— वही बाद में बंगाल आर्मी हुई। बाद में जब उन पर ऐसे आक्रमण हुए जिसमें इनके व्यापार और जान जा सकती थी। उसे बढ़ा कर भी कहा है इन लोगों ने, और घटा

कर भी कहा है। पर यह अवश्य है कि 1707 के बाद जो अस्थिरता आयी उसमें ख़ुद को बचाने के लिए इन्होंने जो फ़ौज और नीतियाँ जुटाईं, वे समसामयिक थीं। फ़र्ज कीजिए, मुझे यहाँ से आगरा जाना है। अब अगर विवेकजी आगरा जा रहे हैं तो उनके ट्रक में मैं भी चढ़ गया। आगरा से इलाहाबाद, इलाहाबाद से मुग़लसराय, वहाँ से दरभंगा पहुँच गये। इस नीति को अपनाते हुए उनकी फ़ौज बढ़ती गयी। भाषा की बात जब भी हुई तो उन्होंने ऐसी कोई नीति नहीं बनाई कि आपको यह करना ही है। हाँ, ऐसी अवश्य बनाई कि अगर उसमें भारतीय आते हैं तो उसमें उनका लाभ हो।

कम्पनी की भाषा देशी लोगों से सम्पर्क के लिए अंग्रेज़ी हो गयी तो उनके पास इतने लोग ही नहीं थे कि अंग्रेज़ी में लिख सकें। तो उन्होंने कहा जो भारतीय अंग्रेज़ी जानता होगा उसे रख देंगे। जो चिट्ठी की नक़ल कर देगा तो नक़ल करने वाले को एक आना देंगे। एक आना महीने की तनख़्वाह होती थी जो कोई भी राजा, ज़मींदार नहीं देता था। लूट हो गयी, लड़ाई हो गयी, तो हीरा-मोती भले दे दें, पर महीने की तनख़्वाह देने की परम्परा भारत में लगभग नहीं थी।

बहुत सी टर्मिनोलॅजी है, जिसके हम कंज़्यूमर हैं, लेकिन ये लफ़्ज़ जहाँ बने हैं, उन कारख़ानों का हम हिस्सा नहीं हैं। ... हमारे पास नयी शब्दावली नहीं है। सोचने-समझने के अंदाज़ में अटपटापन लगता है। लेकिन, मैं यहाँ यह वकालत नहीं करूँगा कि अंग्रेज़ी को हटा कर सिर्फ़ भारतीय भाषा में सोचा जाए। ... विदेशी भाषा के थोपे जाने से पैदा होने वाले कल्चरल डिवीज़न को एमी सिज़ेयर ने म्युटिलेशन कहा है। ... पर इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि ... भारतीय भाषाओं के बीच संवाद बनाने के लिए भी आज हमारे पास अंग्रेज़ी के अलावा कोई ज़ुबान नहीं है।

अंग्रेज़ों ने यह शुरू किया। एक पेज नक़ल करो एक आना ले जाओ। इस तरह अंग्रेज़ी स्कूल आये, अंग्रेज़ी स्कूलों की भरमार हो गयी, अंग्रेज़ी हिंदी शब्दकोश आया। लोगों ने सीखना शुरू कर दिया। स्थिति यह हो गयी कि 1816 से 1823 की रिपोर्ट कलकत्ता बुक ऑफ़ सोसाइटी के हिसाब से अंग्रेज़ी की किताब 6,000 प्रतिवर्ष बिकी। हिंदी और संस्कृत की केवल 16 कॉपी, फ़ारसी की 26-27 कॉपी और बांग्ला की केवल 4-5 सौ कॉपी बिकी।

मित्रो, मैं अंग्रेज़ी की वकालत करने नहीं आया। मैं लोगों की वकालत करने आया हूँ। आज की तारीख़ में मेरे गाँव के लोगों को दिल्ली में नौकरी कैसे मिलेगी? सरकार आरक्षण में बँटी है। नौकरी है या नहीं पता नहीं। नौकरी निजी है और यह दुनिया हमें पसंद हो या न हो। ... मेरा बस चले तो मैथिली को राष्ट्रसंघ की भाषा होनी चाहिए, हिंदी को भी ले चलूँ क्योंकि वह हमारी पड़ोसी भाषा है। लेकिन इतिहास की ऐसी दुर्घटना है। 1919 का लीग ऑफ़ नेशन का चार्टर अंग्रेज़ी में नहीं लिखा गया था। प्रेसीडेंट विल्सन के दबाव से एक कॉपी की गयी थी। तो अमेरिका वालों ने बड़ी मदद की। 1945 तक कोई संदेह नहीं रह गया कि अंग्रेज़ी ही मुख्य भाषा होगी यूएनओ की। इतना वर्चस्व बढ़ा अंग्रेज़ी का... 1953 में जब विजय लक्ष्मी पण्डित बनी संयुक्त राष्ट्र की चेयरपर्सन, उन लोगों का दबाव था कि शी स्पीक्स इंग्लिश। अंग्रेज़ी हमारे लिए आज बस विंडो ऑफ़ वर्ल्ड नहीं है, बल्कि यह रोटी का प्रश्न है।

हमें इस विषय पर विमर्श करना चाहिए कि अंग्रेज़ी कहाँ से आयी। आवश्यक है यह जानना। यह जान कर ही पता चलेगा कि कहाँ जा रहे हैं हम? कहाँ जाना चाहिए? इतिहास बड़ी सार्थक चीज़ है। इतिहास वह वोट है जो हमारे दिवगंत पूर्वजों ने दिया है हमारे आज के विषय पर। उसे अवश्य देखना चाहिए। लेकिन उसे हम काला चश्मा लगा कर न देखें। उसे हम तथ्यों के आधार पर, मान्यताओं से निकाल कर देखें तो शायद हम अच्छी तरह सीख पाएँगे।



हृदयकांत दीवान : दो महत्त्वपूर्ण चीज़ें हैं। पहले क्या था, आज क्या है? किसकी क्या ज़िम्मेदारी है? यह समझना आसान नहीं था। इसे इतिहास में खँगालने की ज़रूरत है। इतना सरल नहीं है यह कहना कि वह मैकॉले की नीति थी या अंग्रेज़ों की नीति थी। अंग्रेज़ों के भीतर भी आपसी विरोध और मतभेद मौजूद था। अगर आप एलफ़िंस्टन को देखें तो वे बहुत साफ़ कहते दिख रहे हैं कि हमें ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जो यहाँ की मान्यताओं या प्रथाओं के ख़िलाफ़ हो। मैकॉले जब अपने मिनट में लिखते हैं कि जिस तरह की लड़ाई हम अपने देश में लड़ रहे हैं वैसी यहाँ भी लड़नी चाहिए। पर दोनों में फ़र्क़ है। अंग्रेज़ों के साथ संबंधों का जो विकास है, उसके बीच भी अंतर है। मैकॉले की छवि उपनिवेशवादी की तो थी ही क्योंकि वे राज्य चला रहे थे, जैसे आज के ब्यूरोक्रेट चलाते हैं। उनमें भी वही प्रवृति थी। लेकिन उनकी ख़ुद की जो प्रवृत्ति थी, वह ज्ञान को लोगों में फैलाने की थी, ताकि उनके साथ जो घट रहा है उसे वे समझ सकें। एक बड़ी बात यह है, पता नहीं सच है या झूठ है। मैकॉले सोचते थे कि ये लोग जो हमारे साथ अंग्रेज़ी सीखेंगे तो उसे भारतीय भाषा में अनूदित करेंगे ताकि वह ज़्यादा लोगों तक पहुँच सके। लेकिन उसकी एक सीमा रह गयी। दरअसल, जब अंग्रेज़ी अर्थ का साधन बन गयी तो उसके साथ यह भी समस्या हुई कि अगर ज़्यादा लोगों में यह ज्ञान पहुँचा तो अर्थव्यवस्था में प्रवेश की प्रतियोगिता बढ़ जाएगी। यह समस्या आज भी है।

कई तरह के इतिहास और कई पहचानें हैं। बात सिर्फ़ अंग्रेज़ी या नॉन-अंग्रेज़ी की नहीं है। वह संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी, की अस्मिताएँ तो हैं ही, भारतीय भाषाओं व हिंदी के वर्चस्व की भी बात है। इसलिए यह हमारी मजबूरी है कि अंग्रेज़ी हमारी सम्पर्क-भाषा है। हमें सोचना होगा कि हमने अपनी भाषाओं के न पनपने देने के कारण कैसे यह ज़िम्मेदारी अंग्रेज़ी को दे दी है। वैसे भाषाओं में संवाद होता रहता है। जब व्यापार होता है तो लोग संवाद विकसित कर लेते हैं। लोग जब आपस में मिलते हैं तो नयी भाषाएँ विकसित कर लेते हैं। मुझसे ज़्यादा यहाँ बैठे विद्वान यह बात जानते हैं। लेकिन अंग्रेज़ी सम्पर्क-भाषा रहे, यह ज़रूरी नहीं है। हमारी ख़ुद की आपसी लड़ाई और हमारे उग्र-भाषावाद के कारण यह हुआ है।

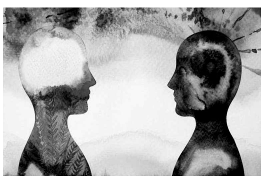
आख़िरी बात। हिंदी का वर्चस्व, उसके साथ हिंदुत्व का बढ़ता हुआ आडम्बर, और बढ़ते केंद्रीकरण ने भी हमारे सामने विविधता को बचाने की समस्या पैदा की हुई है। अब टेक्नॉलॅजी है, सोशल मीडिया है, व्हाट्सएप है, जिसके ज़रिये एक बात लोगों को बताते रहेंगे, प्रोपेगेंडा करते रहेंगे, तो दूसरी बातों को, दूसरी भाषाओं को, दूसरे विचारों को जगह नहीं मिलेगी। अगर आप यही बताते रहेंगे कि अंग्रेज़ों ने हमारे साथ अन्याय किया, ब्राह्मणों ने हमारे साथ अन्याय नहीं किया, दलित इस देश में पूजनीय थे, इस देश में बहुत सी आश्रमशालाएँ थीं, और सबके लिए शिक्षा सम्भव थी— तो काम नहीं चलेगा। इस मसले को थोड़ा गहराई से समझने की ज़रूरत है।

मैकॉले और एलफ़िंस्टन पर जब किताब लिखी हमने, तब सोचने की कोशिश की। शिक्षा विभाग में यही कहा जाता है कि हमारी जो मौजूदा स्थिति है वह मैकॉले की वजह से है। हमने यह सोचने की कोशिश की कि मैकॉले ने ऐसा क्या किया जिस वजह से पूरे देश की शिक्षा का यह हाल हो गया। उस मिनट का अर्थग्रहण करने के बाद व एलफ़िंस्टन को पढ़ने के बाद लगा कि शिक्षा-व्यवस्था की यह जो ज़िम्मेदारी है वह हमारी वजह से है। मैकॉले के कारण नहीं। हमने उसमें जो लगातार परिवर्तन किये हैं वे अपने विवेक से किये। कमोबेश यही हाल सारी दुनिया में शिक्षा का है। सभी तक शिक्षा पहुँचाने की जो बात है, जो बराबरी की बात है, वह कहीं नहीं हो पाई है। मुझे लगता है इस समस्या को ज़्यादा व्यापक तरीक़े से समझने की ज़रूरत है। अंग्रेज़ी को उपनिवेशीकरण के संदर्भ में और उसमें भी भाषा के उपनिवेशीकरण के संदर्भ में इस समस्या को देखने से हम कई चीज़ें छोड़ देंगे।



आदित्य निगम : बहुत ख़ूब कहा श्रीशभाई ने और हार्डीसाहेब ने। पर हम इतिहास से क्या रिश्ता बनाते हैं, यह हमारी चर्चा का विषय होना चाहिए। इतिहास की मजबूरियों में हम बँधे रहें, यह क्या ज़रूरी है? बहुत सारी बातें इतिहास में हो गयीं, जिन्हें हम उचित नहीं ठहरा सकते। लेकिन फ़ैसला क्या इतिहास के आधार पर होगा (गोया वहीं पर सारा सत्य छिपा है)? यह कहाँ तक जायज़ है? जैसे आशिस नंदी कई बार कहते हैं, और अर्नेस्ट रेनन ने नेशन के संदर्भ में कहा है कि यू कैन नॉट लिव इन नेशन विदआउट फ़ॉरगेटिंग। कुछ चीज़ों को आपको भूलने के लिए तैयार रहना पड़ता है। विस्मृति ज़रूरी है। तो उस संदर्भ में इतिहास के सवाल को आप लोगों ने पेश कर दिया है, इसलिए जब आप उस पर बोलें तो इस पहलू को भी चर्चा में लाएँ।

... संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी, की अस्मिताएँ तो हैं ही, भारतीय भाषाओं व हिंदी के वर्चस्व की भी बात है। इसलिए यह हमारी मजबूरी है कि अंग्रेज़ी हमारी सम्पर्क-भाषा है। हमें सोचना होगा कि हमने अपनी भाषाओं के न पनप देने के कारण कैसे यह ज़िम्मेदारी अंग्रेज़ी को दे दी है। वैसे भाषाओं में संवाद होता रहता है। जब व्यापार होता है तो लोग संवाद विकसित कर लेते हैं। लोग जब आपस में मिलते हैं तो नयी भाषाएँ विकसित कर लेते हैं। मुझसे ज़्यादा यहाँ बैठे विद्वान यह बात जानते हैं। लेकिन अंग्रेज़ी सम्पर्क-भाषा रहे, यह ज़रूरी नहीं है। हमारी ख़ुद की आपसी लड़ाई और हमारे उग्र-भाषावाद के कारण यह हुआ है।

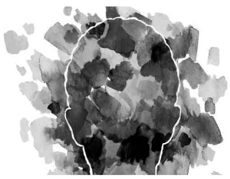


राजकुमार : मैं काशी विश्वविद्यालय में हिंदी पढ़ाता हूँ। अंग्रेज़ी के इतिहास के बारे में आप लोग ज़्यादा जानते हैं पर मैं आपका ध्यान एक अन्य पहलू की ओर ले जाना चाहता हूँ। अलग-अलग क्षेत्रों की भाषा कैसे बनी और उनका अंग्रेज़ी से कैसा रिश्ता बना। मैं हिंदी के बारे में इस पहलू की चर्चा कर सकता हूँ।

उन्नीसवीं शताब्दी के बारे में यही पढ़ाया जाता है कि इस सदी में मॉडर्न एज की शुरुआत होती है। अर्ली मॉडर्न वग़ैरह के बारे में तो जानते नहीं तो बताएँगे क्या। जो भी हो, मेरा ख़याल है कि ज़्यादातर भाषाओं में यही बात प्रचलित होगी कि उन्नीसवीं सदी में आधुनिक युग शुरू हुआ।

हिंदी में भारतेंदु को श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने आधुनिकता लाने का काम किया। लेकिन एक बात का ज़िक्र नहीं होता कि भारतेंदु अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे व्यक्ति थे। उन्होंने जिस तरह से साहित्य लिखा, उस पर पश्चिम का गहरा असर है। यानी उनके ज़माने से पहले जिस तरह का साहित्य लिखा जाता था, वह बिल्कुल एक झटके में बदल जाता है। यह एक तरह से अंग्रेज़ी-ज्ञान से सूचित साहित्य है। उसकी विधाएँ भी बदल जाती हैं। संकल्पनाएँ भी बदल जाती हैं। इसके साथ ही भारतेंदु साहित्य के राजनीतिक लीडर भी थे। उनका लेखक मण्डल भारतेंदु मण्डल कहलाता है। उनके साथ जो लोग आये वे सभी उसी चीज़ को उसी रूप में, जिसमें भारतेंदु ने बता दिया था, अपना रहे थे। पहली बार यह हुआ कि अगर आप अंग्रेज़ी नहीं जानते हैं तो आप लेखक नहीं हैं। अंग्रेज़ी जानने वाला, अंग्रेज़ी साहित्य से जो वाक़िफ़ है, वह जो कुछ लिख रहा है, वही साहित्य है। इस तरह अंग्रेज़ी की वजह से साहित्यकार होने की धारणा और समझ में बहुत बड़ा ब्रेक आ जाता है। जो ब्रज में लिख रहे थे, वे बाहर हो जाते हैं। जो पहले की परम्परा की निरंतरता में लिख रहे हैं वे बाहर हो जाते हैं। यहाँ तक कि भारतेंदु के वे लेख भी बाहर हो जाते हैं जो उन्होंने ब्रज में लिखे थे। मैंने यह बात यहाँ इसलिए रखी कि उन्नीसवीं सदी के बाद से साहित्य की वैध कैटेगरी वही बनी जो अंग्रेज़ी के सान्निध्य में पनपी थी। अगर आप अंग्रेज़ी नहीं जानते हैं, और साहित्य लिखते हैं तो साहित्यकार हैं ही नहीं। यह असर इतना व्यापक होता चला गया कि जो अंग्रेज़ी नहीं जानते थे, वे भी वही लिखने लगे जो अंग्रेज़ी जान कर लिखने वाले लिखते थे। इस तरह अगर भाषाओं के इतिहास के बारे में देखा जाए तो अंग्रेज़ी

का हस्तक्षेप बहुत ख़ास है। यह चीज़ ज़रूर है कि आप अंग्रेज़ी नहीं जानने के बावजूद भी वही चीज़ लिख सकते थे— जैसे आर्य समाज के दयानंद के बारे में कहा जाता है कि वे अंग्रेज़ी नहीं जानते थे पर वे जो कुछ कह रहे थे वह अंग्रेज़ी के प्रभाव में जो था उसी से ले कर कह रहे थे। तो हो सकता है कुछ लोग अंग्रेज़ी न जानते हों पर वे लिख वही रहे थे जो अंग्रेज़ी जानकर लिखने वाले लिख रहे थे।



प्रथमा बनर्जी : मेरे दिमाग़ में दो-तीन सवाल हैं, और मैं भारत में अंग्रेज़ी के इतिहास पर चर्चा किये बिना उनकी बात करूँगी। पहली बात तो यह है कि दुनिया के इस हिस्से में अंग्रेज़ी के इतिहास पर तो काफ़ी काम करना ही है, साथ ही यह देखना भी ज़रूरी है कि सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में भाषाओं की बुनियादी अवधारणा ही कैसे बदली। यह वह शुरुआती क्षण था जब औपनिवेशिक फ़िलोलॅजी और तुलनात्मक फ़िलोलॅजी में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का उदय हो रहा था। यही वह समय था जब भाषा के विचार और राष्ट्रीय अस्मिता के विचार के बीच दुनिया के पैमाने पर सूत्र बन रहा था। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में घटित हुए इस घटनाक्रम ने दुनिया में भाषा से संबंधित प्रश्न पर दूरगामी असर डाला। इसके बाद यह विचार जमने लगा कि भाषा की स्पष्ट चौहद्दी होती है और वह बुनियादी रूप से एक शब्दावली और अर्थों का संग्रह है। इससे पहले भाषा को एक शब्दों और अवधारणाओं के एक समुच्चय के तौर पर समझने की बजाय बोलने के लिए वाक्य-रचना का सूत्रीकरण करने वाली प्रणाली के तौर पर समझा जाता था। भाषा से संबंधित इन अवधारणात्मक परिवर्तनों को हमें समझना होगा, और यह भी समझना होगा कि इसका हमारे देश में अंग्रेज़ी के संदर्भ में क्या असर पड़ा। इस पहलू में मेरी दिलचस्पी काफ़ी है।

दूसरी बात यह जिसके बारे में राजकुमार ने भी चर्चा की है जिन्हें हम आज भारतीय भाषाएँ कहते हैं उनके भीतर भारत में छापेख़ाने के आगमन के बाद उन्नीसवीं सदी में हुए बदलावों पर ग़ौर करना ज़रूरी है। इतिहासकारों ने इस पर काफ़ी मात्रा में दिलचस्प काम किया है। यहाँ मुझे देवेश राय का काम याद आ रहा है जो दिखाता है कि किस तरह केवल अर्थ और मुहावरों के संदर्भ में ही नहीं, बल्कि वाक्य-रचना, व्याकरण चिह्नों और पैराग्राफ़िंग के संदर्भ में लिखित बांग्ला में परिवर्तन किया गया। हम उस तार्किक संरचना को जानते हैं जिसके मुताबिक़ मिशनरी इंग्लिश के मॉडल पर गद्य-रचना निर्धारित हुई। इसमें आग्रह यह था कि छापेख़ाने की प्रौद्योगिकी के क्या अनुकूल होगा। इस लिहाज़ से देखें तो भारतीय भाषाओं की स्वायत्तता पर अंग्रेज़ी के मॉडल का गहरा असर पड़ा। बांग्ला में बहुत लिखा-पढ़ा जाता है, लेकिन जो कुछ हम बांग्ला में लिख-पढ़ रहे हैं वह क्या बांग्ला का सोच है या फिर वह संयोग से ही बांग्ला में लिख दिया गया है, वरना वह तो अंग्रेज़ी की ही देन है।

तीसरा और आख़िरी सवाल वह है जिस पर श्रीशजी भी बात कर चुके हैं। यह है कि दुनिया भर में लोग डायग्लॉसिया और पोलिग्लॉसिया के बीच में रहते हैं। कोई ज्ञान की भाषा होती है, कोई दर्शन की भाषा होती है, सौंदर्यशास्त्र की भाषा बिल्कुल अलग हो सकती है, वाणिज्य की भाषा एकदम भिन्न हो सकती है, और रोज़ाना की बातचीत की भाषा कुछ और हो सकती है। भारत में भी यह रहा है (संस्कृत और फ़ारसी कुछ क्षेत्रों की विशेष भाषाएँ रही हैं), यूरोप में भी यह रहा है। तो, यह कोई नयी बात नहीं है कि एक भाषा में हम कुछ काम करते हैं और दूसरी भाषा में हम कुछ और काम करते हैं। यह एक ऐतिहासिक प्रश्न है कि जिस तरह की बहुभाषिता का हम आज सामना कर रहे हैं, वह प्राक्-औपनिवेशिक भारत की बहुभाषिता से किन अर्थों में भिन्न है। यह बहुत अहम सवाल है, और सुदीप्त कविराज ने सबाल्टर्न स्टडी के पहले खण्ड में लिखे लेख में इसकी चर्चा की थी। वहाँ उन्होंने इससे संबंधित एक मॉडल भी बनाया था। दरअसल, वहाँ वे भाषाओं की परस्पर सुभेद्यता की थीसिस प्रस्तावित कर रहे थे। कविराज के उस सूत्रीकरण पर एक बार फिर से ग़ौर करने से हमें इस चर्चा के संदर्भ में लाभ हो सकता है।



प्रबाल दासगुप्ता : मैंने एक पुस्तक लिखी थी जो 1993 में छपी। इसका शीर्षक था द *अदरनेस ऑफ़ इंग्लिश : इंडियाज़ आंटी टंग सिंड्रॉम*। इसमें मैंने कहने की कोशिश की थी कि भारत में अंग्रेज़ी न तो मातृभाषा है और न ही विदेशी भाषा, बल्कि इनके बीच में कहीं है जिसे मैंने आंटी टंग इंग्लिश क़रार दिया था। मेरी यह बात समय के उसी क्षण में रह गयी। मुझे तो बहुत ख़ुशी है कि भारत में जनता की याद्दाश्त की उम्र न केवल छोटी होती है, बल्कि साहित्यिक स्मृति भी काफ़ी सतही क़िस्म की है। आज कोई मेरे पास नहीं आया कि प्रबाल तुम्हारी पुस्तक के पच्चीस साल हो गये, और हमें कुछ करना चाहिए। आओ, इस बारे में कुछ चर्चा करें। पच्चीसवाँ साल आया और चला गया, यह छब्बीसवाँ साल है। मैं थोड़ा बेचैन था कि इस साल कुछ न कुछ होगा। लेकिन, भारत में लोगों ने भी रुचि नहीं दिखायी। दरअसल, मेरी किताब इस तथ्य के बारे में है कि अंग्रेज़ी ने भारत में संस्कृत और फ़ारसी जैसी दो बड़ी भाषाओं को प्रतिस्थापित किया है। अन्य बड़ी भाषाएँ भी हैं, पर ये दोनों सबसे बड़ी थीं। इस समय भारत में अंग्रेज़ी का स्थान ज़मीन पर नहीं, बल्कि आसमान में कहीं है। आसमान और ज़मीन के बीच अंग्रेज़ी के संदर्भ में संवाद क़ायम करने का सवाल हमारे सामने है। लेकिन इस पुस्तक का उद्देश्य इससे परे जाते हुए कहीं बड़ा है। उसमें अंग्रेज़ी की अन्यता का संधान किया गया है।

जिन्हें हम आज भारतीय भाषाएँ कहते हैं उनके भीतर भारत में छापेखाने के आगमन के बाद उन्नीसवीं सदी में हुए बदलावों पर ग़ौर करना ज़रूरी है। ... हम उस तार्किक संरचना को जानते हैं जिसके मुताबिक़ मिशनरी इंग्लिश के मॉडल पर गद्य-रचना निर्धारित हुई। ... भारतीय भाषाओं की स्वायत्तता पर अंग्रेज़ी के मॉडल का गहरा असर पड़ा। बांग्ला में बहुत लिखा-पढ़ा जाता है, लेकिन जो कुछ हम बांग्ला में लिख-पढ़ रहे हैं वह क्या बांग्ला का सोच है या फिर वह संयोग से ही बांग्ला में लिख दिया गया है, वरना वह तो अंग्रेज़ी की ही देन है।

यह एक ग्लोबल तथ्य है और इसी नाते अलग-अलग देशों में इसके मायने अलग-अलग हैं। हाल ही में मैंने एक अल्जीरियायी लेखक कमल दाउद का फ्रांसीसी में लिखा गया बेहतरीन उपन्यास पढ़ा जिसके अंग्रेज़ी अनुवाद का शीर्षक था *म्यूरसॉल्ट इंवेस्टिगेशन*। इसमें एक अनाम अरब को एक बाहरी व्यक्ति क़त्ल कर डालता है। 2015 में ऐसा उपन्यास लिखा जाना, और पुरस्कृत होना इस बात का सबूत है कि ग्लोबल स्तर पर अंग्रेज़ी के रुतबे के बावजूद और एंग्लो-अमेरिकी संस्कृति के दायरे के बाहर अल्जीरिया और फ्रांस के बीच बिना अंग्रेज़ी की मध्यस्थता के सीधे संवाद हो सकता है। उपन्यास में जो आवाज़ है वह उस मक़तूल अरब के भाई की आवाज़ है। कहने का मतलब यह है कि जब एक अरब फ्रांसीसी की आँखों में आँखें डाल कर देखता है, तो इंग्लिश/अमेरिका की उस घटनाक्रम पर कोई छाया नहीं है। ऐसी किताब अंग्रेज़ी की ग़ैर-मौजूदगी के साथ लिखी जा सकती है, पुरस्कृत हो सकती है— इससे पता चलता है कि अंग्रेज़ी की प्रधानता वाली दुनिया के बाहर भी एक दुनिया है। यह दूसरी बात है कि जिस तरह मेरी किताब लोगों की कमज़ोर याद्दाश्त की शिकार हो गयी, उसी तरह इस पुस्तक के प्रकाशन पर भी ध्यान न दिया जाए।



बैदिक भट्टाचार्य : इतिहास के प्रश्न को अगर देखा जाए तो मैं कहूँगा कि अंग्रेज़ी और उपनिवेशवाद के सवाल को एक हद तक अस्सी और नब्बे के दशक में सम्बोधित किया जा चुका है। कहना न होगा कि इसकी सीमाएँ भी हैं। इससे पूरी तस्वीर सामने नहीं आती, क्योंकि अगर आप औपनिवेशिक अवधि, ख़ासकर इसके शुरुआती दौर को बारे में जानना चाहें तो। 1983 में गौरी विश्वनाथन की बेहतरीन रचना *मास्क्स*



बाएँ से : अभय कुमार दुबे, श्रीश चौधरी, हृदयकांत दीवान, वीणा नरेगल, राजकुमार और राधावल्लभ त्रिपाठी

भारतेंदु ... के ज़माने से पहले जिस तरह का साहित्य लिखा जाता था, वह बिल्कुल एक झटके में बदल जाता है। यह एक तरह से अंग्रेज़ी-ज्ञान से सूचित साहित्य है। ... पहली बार यह हुआ कि अगर आप अंग्रेज़ी नहीं जानते हैं तो आप लेखक नहीं हैं। अंग्रेज़ी जानने वाला, अंग्रेज़ी साहित्य से जो वाक़िफ़ है, वह जो कुछ लिख रहा है, वही साहित्य है। इस तरह अंग्रेज़ी की वजह से साहित्यकार होने की धारणा और समझ में बहुत बड़ा ब्रेक आ जाता है।

ऑफ़ कांक्वेस्ट प्रकाशित हुई तो उसकी आलोचना में मुख्य रूप से यही आलोचना सामने आयी थी। मैं इस संदर्भ में तीन बातें कहना चाहूँगा।

मेरी पहली बात प्राच्यवादियों और आंग्लवादियों के बारे में है। भारत में प्राच्यवादी परियोजना बाक़ायदा 1771 में शुरू हुई। यह वह दौर था जिसने भाषा के बारे में समझ को एक ख़ास तरीक़े से बदला। इसका ज़िक्र प्रथमा ने भी किया है। यह परिवर्तन केवल भारत तक ही सीमित नहीं था। दूसरे देशों पर, ख़ासकर इसका असर युरोप पर भी पड़ा, जहाँ जनरल ग्रामर या यूनिवर्सल ग्रामर से तुलनात्मक भाषाशास्त्र (फ़िलोलॉजी) या आधुनिक भाषाशास्त्र की ओर परिवर्तन हुआ। इसे हम चाहें तो औपनिवेशिक फ़िलोलॉजी भी कह सकते हैं, क्योंकि इस तुलनात्मक भाषाशास्त्र के विचार की शक्ल-सूरत भारत में गढ़ी गयी। अकसर इसका रिश्ता कलकत्ता में 1784 में सर विलियम जोंस के एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल की वर्षगाँठ के अवसर पर दिये गये व्याख्यान से जोड़ा जाता है। इससे संबंधित बहस के शुरुआती रूपों को दूसरे उपनिवेशवादी लेखकों की रचनाओं में भी देखा जा सकता है। विलियम जोंस की ख़ास बात यह थी कि उन्होंने पहली बार भाषा-परिवार का विचार पेश किया जिसका बाद में नामकरण इंडो-युरोपियन भाषा-परिवार के रूप में किया गया। इससे पहले हमें भारतीय भाषाओं और औपनिवेशिक अधिकारियों के बीच सम्पर्कों के इतिहास की जानकारी मिलती है। इनमें से कई अधिकारी प्रशिक्षित फ़िलोलॉजिस्ट थे। जोंस तो ख़ुद ग्यारह भाषाएँ जानते थे।

यहाँ समझने की बात यह है कि उपनिवेशवाद कोई एकतरफ़ा क़िस्म का प्रोजेक्ट नहीं चला रहा था। अगर इसे इस रूप में समझा जाएगा तो बहुत समस्या होगी। हमें यह भी देखना होगा कि उपनिवेशवाद ने प्राच्यवाद के साथ क्या किया। समझना होगा कि प्राच्यवादी परियोजना दरअसल थी क्या? प्राच्यवाद की

हमारी समकालीन समझ एडवर्ड सईद के संबंधित प्रतिपादनों से काफ़ी प्रभावित है। सईद के असर को समझा जा सकता है। लेकिन अगर हम सईद की रचना के पीछे की एक प्रेरणा पर नज़र डालें, मेरा मतलब यहाँ रेमण्ड श्वाब की रचना से है, तो प्राच्यवाद से संबंधित एकदम अलग तरह की दलील सामने आती है। सईद की रचना मुख्य रूप से मध्य-पूर्व के बारे में है, पर इस दलील से पता लगता है कि प्राच्यवाद ने भारत या पौर्वात्य संसार के साथ ही नहीं, युरोप के साथ भी क्या किया। सईद ने श्वाब की रचना से अपनी किताब में उद्धरण भी दिये, उनके ज़रिये और बाद में उस रचना के अंग्रेज़ी अनुवाद *ओरिएंटल रिनेसाँ* से पता चलता है कि किस तरह प्राच्यवाद ने युरोप में ज्ञान के प्रतिमानों को अठारहवीं के आख़िरी दौर से शुरुआती बीसवीं सदी के दौरान बुनियादी रूप से बदल डाला। अगर हम प्राच्यवादी ज्ञान के कुछ तत्कालीन वृत्तांतों को पढ़ें, तो उस समय वे लोग भारत के बारे में जो कह रहे थे और आज के दक्षिणपंथी राजनेता जो भारत के बारे में कह रहे हैं, उनके बीच साफ़ तौर से समझ में आने वाली समानता दिखाई देगी। मैं चाहता हूँ कि इस पहलू का संधान किया जाना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि प्राच्यवाद का असल में क्या हुआ? हम जानते हैं कि 1830 के दशक में आंग्लवादियों ने और नयी शिक्षा-प्रणाली की शुरुआत ने प्राच्यवादियों को पूरी तरह से परास्त कर दिया था। प्रश्न यह है कि इस पराजय के बाद प्राच्यवादी ज्ञान का क्या हुआ? मेरा सुझाव है कि हमें इसके बारे में सोचना चाहिए, लौट कर फिर इस पर विचार करना चाहिए कि किस तरह प्राच्यवाद एक-दूसरे रणनीतिक मुक़ाम पर एक ऐसे वैकल्पिक अभिलेखागार के रूप में फिर से उभरा जिसके ज़रिये हम इतिहास के बारे में चिंतन कर सकते हैं। हमें उन्नीसवीं सदी के भारत की प्रमुख हस्तियों के बारे में सोचना चाहिए, जैसे बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय या बाद में दयानंद सरस्वती या विवेकानंद या अरविंद घोष वग़ैरह। अगर हम संदर्भों पर निगाह डालें तो हमें नये संदर्भ-बिंदु मिलेंगे जहाँ वे प्राच्यवादी बहसों का इस्तेमाल करते हुए दिख सकते हैं। यह एक लम्बी परम्परा है जो विलियम जोंस से मैक्स म्युलर और मोनियर मोनियर विलियम्स तक जाती है। यह बहुत बड़ा अभिलेखागार है। ये हस्तियाँ इस अभिलेखागार की तरफ़ इशारा करती हैं कि इससे हमें इतिहास की पुन: कल्पना करने का मौक़ा मिलेगा। यह एक अंतर्धारा है जो हिंदुत्व की राजनीति में बड़े भयंकर ढंग से सिर उठाती दिखती है। यह विचार कि हमें प्राक्-औपनिवेशिक प्राचीन हिंदू भारत की तरफ़ लौट जाना चाहिए— दरअसल शुरुआती प्राच्य कल्पनाशीलता की देन है। श्वाब की रचना हमें दो श्लेगल भाइयों, फ्रीडिश और ऑगस्ट, के बीच हुए निजी पत्र-व्यवहार की जानकारी देती है। असल में फ्रीडिश श्लेगल युरोप में संस्कृत के पहले प्रोफ़ेसर थे, और ऑगस्ट पेरिस में लिख-पढ़ रहे थे। उस समय संस्कृत सीखते हुए फ्रीडिश अपने भाई को लिख रहे थे कि यह समय संस्कृत सीखने का है, क्योंकि उन्हें लग रहा था कि युरोपीय सभ्यता में ज़्यादातर चीज़ों का संबंध भारत से है। यही है वह दावा जिसे हिंदुत्ववादी अकसर करते रहते हैं कि जो भी रोचक और महत्त्वपूर्ण था वह भारत से ही शुरू हुआ। चाहे वह प्लास्टिक सर्जरी हो या अंतरिक्ष यान। अत: इस घटनाक्रम की रोशनी में हमें सोचना चाहिए कि भारत में प्राच्यवादी ज्ञान का क्या हश्र हुआ, और युरोप में ज्ञान के प्रतिमानों पर इसने क्या असर डाला।

अब संक्षेप में अपनी तीसरी बात कहूँगा। हमें कुछ तुलनात्मक दृष्टि से भी सोचना चाहिए कि यह बहस केवल भारत में ही नहीं हो रही है। अस्सी के दशक से यह बहस अन्य जगहों पर, अन्य उत्तर-औपनिवेशिक मुक़ामों पर हो रही है। ख़ासकर मैं उल्लेख करना चाहूँगा अफ़्रीकी साहित्य में होने वाली बहस का कि वहाँ साहित्य की भाषा क्या होनी चाहिए? मुझे यक़ीन है कि आप सभी इन प्रमुख बहसों से ज़रूर वाक़िफ़ होंगे। दूसरी बहस दक्षिण अमेरिकी संदर्भ में वि-उपनिवेशीकृत दक्षिण अमेरिका के विचार के इर्द-गिर्द हो रही है। यही है वह मुक़ाम जहाँ वाल्टर मिनोलो और आर्तुआ एस्कोबार जैसे विद्वान वि-उपनिवेशीकरण के विचार को ख़ारिज करते हुए वि-उपनिवेशिकता या डिकोलोनियलिटी के विचार की स्थापना करते दिख रहे हैं। मेरे ख़याल से हम लौट कर इस प्रश्न को तुलनात्मक दृष्टि से सम्बोधित करें तो बेहतर होगा।



राकेश पाण्डेय : चूँकि अभयजी ने शुरू में ही यह बात रखी थी कि भाषा को लेकर हमारे जो झगड़े हैं, एक तनातनी है, वह मैंने भी देखी है। सीएसडीएस में यह चलती रहती है। लेकिन अभयजी ने एक ज़्यादा ज़रूरी चीज़ को भी रखा। जब हिंदी पत्रकारिता में, वामपंथी आंदोलन में, समाज-विज्ञान के अनुवाद और लिखने-पढ़ने में एक लम्बा अरसा गुज़ारने के बाद वे कहते हैं कि मुझे पता नहीं था कि मेरा आत्म कहाँ था और जिस तरह से वे यह बात रखते हैं तो मुझे लगता है कि बहुत सारे प्रश्न वहीं स्थित हैं। मैंने अभयजी से कहा था कि ऐसी कार्यशालाओं में अकसर हम अपनी बातें दुहराते हैं। सूचनाएँ भी दुहराई जाती हैं और फिर ये कार्यशालाएँ ख़त्म हो जाती हैं। हम चले जाते हैं और भाषाओं का कारोबार वैसा का वैसा ही चलता रहता है। लेकिन अगर इस प्रश्न को इस रूप में देखा जाए कि हमारे आत्म के साथ कुछ हो जाता है, कुछ हम में घटित होता है, तो यह सवाल हम पूछते हैं कि वह घटित होना सच में है, जैसे अभयजी जिस रूप में रख रहे हैं, जैसे अचानक आपको लगता है कि सारा का सारा ग़लत था, सब झूठ था।

और, अगर कोई प्रश्न इस स्तर का है कि हमें लगे कि हमारे आत्म की निर्मिति ही अलग थी और जैसे कि फिर से सब कुछ शुरू करना होगा, तब तो मामला सचमुच गम्भीर है। ऐसे में दो सवाल हमारे सामने हैं। पहला प्रश्न यही है कि सचमुच भाषा और आत्म का क्या रिश्ता है। एक तो रिश्ता वह हो सकता है जो श्रीशजी ने शुरू में कहा था कि भई यह बहुत व्यावसायिक मामला है। बिल्कुल व्यावहारिक मामला है, यह प्रेग्मेटिक गेम है और भाषा बस प्रेग्मेटिक चीज़ है, कॉमर्स भी होता है। भाषा के नाम पर। अगर ऐसा है तो इस पर बात करने को बहुत कुछ है नहीं, क्योंकि फिर हमें इकॉनॉमी पर बात करनी चाहिए। पॉलिटिकल इकॉनॉमी की तरफ़ जाना चाहिए। लेकिन अगर भाषा का आत्म से कोई संबंध है और सेल्फ़ फ़ॉरमेशन से कोई रिश्ता है, वह व्यक्ति का हो सकता है, वह समुदाय का हो सकता है, संविदाओं का हो सकता है। तब फिर यह मामला बहुत पेचीदा है। प्रबालदा की पुस्तक को मैं बहुत याद करता हूँ, ख़ासकर उसके अंतिम अध्याय को। मेरा मानना है कि जो लोग भी भारतीय इतिहास और संस्कृति में रुचि रखते हैं, उन्हें वह अध्याय पढ़ना चाहिए। वह बहुत ज़रूरी है। ज़रूरी इसलिए है कि जिस अंग्रेज़ी को हम ग्राउंड पर कह रहे हैं कि कमर्शियल और प्रेग्मेटिक रीज़न के कारण, जिसके पाँव इतने मज़बूत हैं कि उसके बारे में अगर कहा जा रहा है कि इट्स आल इन द स्काई, फिर इसका मतलब तो यह हुआ कि वहाँ कोई और ही कहानी हमारा इंतज़ार कर रही है।

मैं कहना चाहता हूँ बहुत थोड़े में कि यह भी ज़रूरी है कि प्रथमा ने इस ओर इशारा किया था कि स्वयं हम जब भाषा के विवाद में उतरते हैं और उत्तर भारत में तो बहुत गम्भीर है, काफ़ी ख़ूनखराबा होता है सेमिनारों में इसको ले कर के तो हम कभी भी यह सवाल नहीं पूछते कि हमारे पास भाषा का कोई सिद्धांत है, इसकी कोई समझ है? भाषा है क्या? हम यह सवाल कभी नहीं उठाते और भाषा की लड़ाई चलती रहती है। जबकि मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि भाषा के सिद्धांतीकरण का काम इस देश में हुआ है, जो भी हमारी सांस्कृतिक विरासत है उसके दायरे में। यह सवाल बार-बार लाना हमारे लिए ज़रूरी है। नहीं तो इसेंशियलिज़म और प्रैग्मेटिज़म, ये दो ख़ेमे हैं। कल शाम तक हम इन ख़ेमों में बँट जाएँगे। इसेंशियलिस्ट बार-बार कहेंगे कि हमारे पास हमारी भाषा रही नहीं, जिस कारण हमारा आत्म चला गया, और प्रेग्मेटिक विद्वान बार-बार कहेंगे कि ध्यान रखो कि अंतत: यह प्रेग्मेटिज़्म ही है जो भाषा तय करता है। अगर यही विभाजन है तो हमें बहुत सावधानी से सोचना होगा कि हम भाषा के बारे में सोच रहे हैं या फिर भारतीय भाषाओं में ज्ञानोत्पादन के इतिहास के बारे में चर्चा कर रहे हैं। हमारे लिए यह स्पष्ट होना ज़रूरी है।

बार-बार यह बात उलझती है समाज-वैज्ञानिकों के बीच जो मानविकी और समाज-वैज्ञानिक

अध्ययनों में लगे रहते हैं। वे बार-बार एक ही सवाल लाते हैं कि हमारे पास तो शब्दावली ही नहीं है, कैसे करें। जैसे हम मैदान में खड़े हैं और किट नहीं आया है। तो इसके लिए लम्बी बहस हो सकती है और बताया जा सकता है कि भई किट तो बहुत बड़ा है, किट बिल्कुल तैयार है, लेकिन हमें खेलना नहीं आता है। इसके बारे में बता सकता हूँ कि हमें खेलना क्यों नहीं आता है और किट कितना बड़ा है। वह इतना बड़ा है कि हम न पहचानते हैं, न उसे सँभाल पाते हैं। मेरा ख़याल है कि इस मुद्दे को शुरू में ले आना चाहिए। इसीलिए मैंने अभयजी से यह बात कही थी कि यह बेहतर होगा कि आप वि-उपनिवेशीकरण की बात को थोड़ा पीछे ले जाएँ। क्योंकि फिर तो वही झगड़े ही बचते हैं। बेहतर है वह बात कम हो और हम इस बात की ओर जाएँ कि भाषा हमारी किस तरह की पूँजी है और अगर पूँजी है तो किन रूपों में भाषा हमारी पूँजी बनती है। तो कल जो कहते हैं कि संस्कृत हमारी पूँजी है या अवधी हमारी पूँजी है या अंग्रेज़ी हमारी पूँजी है, तो किस आधार पर वे यह बात कहते हैं और ऐसा कह कर वे क्या कहना चाहते हैं और क्यों एक पूँजी सही लगती है और दूसरी ग़लत लगती है। हमें सोचना चाहिए पूँजी के रूप में भाषा पर और उस संबंध पर जो भाषा को पूँजी या विरासत बनाता है, क्योंकि इसी से भाषा को आत्म बनने और भाषा को हमारा सार बनने की स्थिति बनती है। भाषा के सिद्धांत या भाषा के दर्शन में चाहें तो हम जा सकते हैं। मुझे लगता है कि हमें इस ओर जाना चाहिए। यह चारों तरफ़ फैला हुआ है। ये सवाल पाणिनि में भी है, *महाभाष्य* में भी है, *वाक्यपदीयम* में भी है, 1800 के बाद भी है। इसको अब हमारी बहस में आने की ज़रूरत है, तभी यह बातचीत नया रूप ले पाएगी।

हमें बहुत सावधानी से सोचना होगा कि हम भाषा के बारे में सोच रहे हैं या फिर भारतीय भाषाओं में ज्ञानोत्पादन के इतिहास के बारे में चर्चा कर रहे हैं। ... वे बार-बार एक ही सवाल लाते हैं कि हमारे पास तो शब्दावली ही नहीं है, कैसे करें। जैसे हम मैदान में खड़े हैं और किट नहीं आया है। ... बताया जा सकता है कि भई किट तो बहुत बड़ा है, किट बिलकुल तैयार है, लेकिन हमें खेलना नहीं आता है। इसके बारे मैं बता सकता हूँ कि हमें खेलना क्यों नहीं आता है और किट कितना बड़ा है। वह इतना बड़ा है कि हम न पहचानते हैं, न उसे सँभाल पाते हैं।

*(**आदित्य निगम :** लेकिन मेरा एक सुझाव है। राकेश के साथ पाँच साल रह कर शागिर्दी करके देख ली। अभी तक हमें किट खेलने का नुसख़ा नहीं दिया। अगली बार जब आप बोलें तो उदाहरण दे कर बताएँ कैसे आज के हालात को समझते हैं। और पाणिनि, वाक्यपदीयम सब ठीक है। उसे हमें समझना ज़रूरी है। हमें उससे आगे बढ़ने की ज़रूरत पड़ेगी।)*



सतीश देशपाण्डे : इस विषय पर काफ़ी कुछ कहा जा चुका है। मैं बताना चाहूँगा कि मेरी इस विषय में रुचि किस दिशा से आ रही है और इसकी सीमाएँ कहाँ तक हैं। भाषा के विषय को लेकर मेरी मोटे तौर पर दो तरह की रुचियाँ हैं। एक तो वह जिस पर कई लोग बोल चुके हैं। अंग्रेज़ी को लेकर मुझे दरकार है एक ऐसे ठोस क़दम की, जिससे हम तीन चीज़ों पर कुछ ठोस कह सकें। आज तक जो साहित्य मौजूद है, उसके आधार पर इस विषय पर हम कुछ भी ठोस नहीं कह पाए हैं। और ,ये तीन मुद्दे देखने पर लग सकता है कि अंग्रेज़ी से सीधे-सीधे जुड़े हैं। पर मुझे लगता है कि इसका अध्ययन अनिवार्य रूप से तुलनात्मक ही होना चाहिए। इसे केवल अंग्रेज़ी के सवाल के तौर पर न देखकर भाषा के उपयोग के तौर पर भी देखना ज़रूरी है। भाषा को लेकर जो अभी राकेशजी कह रहे थे और दूसरे लोगों ने भी कही कि मौटे तौर पर भाषा को लेकर दो धारणाएँ रही हैं। यह अतिसरलीकरण है पर

समय बचाने के हिसाब से मोटे तौर पर यह कांस्टीट्यूटिव थियरी ऑफ़ लेंग्वेज और इंस्ट्रूमेंटल थियरी ऑफ़ लेंग्वेज का मसला है। अर्थात्, भाषा क्या आपके पूर्व-निर्मित आशय को दूसरे तक पहुँचाने का माध्यम या साधन मात्र है, या फिर भाषा अपने आप में आशय की निर्मिति भी करती है? ये दो पहलू हैं। यह इसके प्रेग्मेटिक रूप से भी जुड़ा है। यदि भाषा एक माध्यम है तो इसे थोड़ा दूर रख कर आत्मीयता का कोई सवाल नहीं रह जाता। जीवन को चलाने के लिए जैसे और साधनों की आवश्यकता होती है वैसे ही भाषा एक साधन है— जीवन को चलाने के लिए। पर हम जानते हैं कि भाषा केवल एक साधन नहीं है।

मेरे ख़याल से आज अंग्रेज़ी अन्य भारतीय भाषाओं में से एक है। यह सही है कि यह अन्य भारतीय भाषाओं जैसी नहीं है। यह एक ख़ास भाषा है लेकिन इसके भारतीय होने से हम इंकार नहीं कर सकते। इसके भारतीय होने का मतलब क्या है? क्या आशय निकलता है? इस पर हम चर्चा कर सकते हैं। तो इन दोनों धाराओं को एक साथ लेते हुए कि भाषा साध्य है या साधन। इन तीनों चीज़ों की दरकार है हमें आज। एक सवाल है सामाजिक गतिशीलता का कि किस तरह से अंग्रेज़ी सामाजिक गतिशीलता का साधन बनी? एक तरह से लग सकता है कि यह तो सर्वविदित है। इसमें कहने की बात क्या है? लेकिन मुझे लगता है कि इसकी गहनता तक हम नहीं पहुँच पाए हैं। इसे गहनता से समझने के लिए जैसे विवरण चाहिए, उस स्तर के विवरण हमारे पास आज तक नहीं है।

दूसरा, अंग्रेज़ी एज़ अ सोर्स ऑफ़ प्रिविलेज या मार्कर ऑफ़ प्रिविलेज का मसला है। श्रेष्ठता प्रकट करने के लिए अंग्रेज़ी जो काम करती है, उसके बारे में भी हमें एक आत्मीय, बारीक़ व सटीक विवरण की दरकार है।

तीसरा, यह शायद जो राकेशजी कह रहे थे उससे जुड़ा हुआ है। थोड़ा मुश्किल काम है। स्व के निर्माण में भारतीय संदर्भ में अंग्रेज़ी की भूमिका क्या रही है? जैसे कि मैंने पहले भी कहा है, ये तीनों विषय अंग्रेज़ी के साथ जोड़ते हुए तुलनात्मक दृष्टि रखनी होगी, क्योंकि सामाजिक गतिशीलता केवल अंग्रेज़ी से पैदा नहीं होती, दूसरी भाषाओं से भी होती है। हम सब के ऐसे अनुभव होंगे कि हम जो बोली घर में बोलते हैं वह भाषा नहीं कहलाती या औपचारिक भाषा नहीं कहलाती। सामाजिक गतिशीलता के लिए हमें घर से अलग कुछ बोलना और सीखना पड़ता है। तब जाकर हम गतिशीलता पा सकते हैं। तो जिस तरह की कन्नड़ मेरे घर में बोली जाती है वह स्टैंडर्ड कन्नड़ से कमतर मानी जाती है। वह कन्नड़ मैंने तीसरी भाषा के रूप में सीखी। वीणा भी हमारे इलाक़े से आती हैं। इन्हें पता है कितना फ़र्क़ है इन दोनों में।

तो सुझाव मेरा यह है कि इन सारी चीज़ों का केवल अंग्रेज़ी से इनका वास्ता है, यह सोचना ग़लत है। हमारा सवाल होना चाहिए कि अंग्रेज़ी भारतीय भाषा होते हुए दूसरी भारतीय भाषाओं से कैसे अलग है? अलग होने का नतीजा क्या निकलता है? इसके बारे में सोचना ज़रूरी है। तो स्व-निर्माण की भाषा, श्रेष्ठता या आभिजात्य की भाषा और सामाजिक गतिशीलता की भाषा— इन तीनों के रूप में अंग्रेज़ी और दूसरी भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक इतिहास रचना होगा। मेरी रुचि इसमें है।

दूसरी तरह की रुचि कह सकते हैं व्यावसायिक क़िस्म की है। वह है भारतीय भाषाओं में समाज-विज्ञान। यहाँ मेरे ख़याल से जो मुद्दे हैं वे काफ़ी उलझ गये हैं। उन्हें सुलझाना ज़रूरी है, क्योंकि कई बार जब भारतीय भाषाओं में समाज-विज्ञान या अध्ययन की बात की जाती है तो इस अभिप्राय से की जाती है कि किसी भाषा-विशेष का भला होगा या फिर उत्थान या विकास होगा। लेकिन मेरी रुचि यहाँ थोड़ी मतलबी क़िस्म की है। वह है बेहतर समाज-विज्ञान पैदा करने की। उसके लिए मुझे लगता है कि हमें भारतीय भाषाओं की दरकार है। बेहतर समाज-विज्ञान पैदा करने के लिए यह ज़रूरी है। ... समाज-विज्ञान की स्थिति न तो विज्ञान की जैसी है, न कला जैसी है। कला के क्षेत्र में हमारे पास विशाल किट है, राकेशजी जैसा कह रहे थे। यह सही है। जो पहले से है उसे सुधारना है। ज़रूरी नहीं

जो पहले से है, वह हर जगह हर समय कामयाब हो। लेकिन मूल तौर पर हमारे यहाँ है। जब विज्ञान की बात आती है तो विज्ञान को लेकर जो पद्धति है वह व्यावहारिक व सफल पद्धति है कि तकनीकी शब्दों को मूल भाषा अंग्रेज़ी में ही रखा जाता है, बाक़ी सब भारतीय भाषाओं में होता है। भले उस संस्था को अंग्रेज़ी माध्यम का कहा जाता हो। क्योंकि वे तकनीकी शब्द व सिद्धांत संस्कृति-निरपेक्ष हैं। लेकिन समाज-विज्ञान की स्थिति दोनों के बीच की है। न तो हमारे पास पहले से कोई सैद्धांतिक या प्रत्ययों की धरोहर है और न ही हमारे पास आश्वासन है कि आपके पास जो सिद्धांत है वह पूरी तरह से संस्कृति-निरपेक्ष है या संदर्भ-निरपेक्ष है। इस तरह मुझे लगता है कि हमारी दुविधाएँ विशिष्ट दुविधाएँ हैं। जिनकी वजह से श्रेष्ठ सामाजिक विज्ञान पैदा करने के लिए भारतीय भाषाओं में काम होना अनिवार्य है, जो अब तक नहीं हो पाया है। इसलिए नहीं कि इससे कोई भाषा-विशेष का उत्थान होगा, बल्कि इसलिए कि इससे हमारा सामाजिक विज्ञान बेहतर होगा। पर यह कैसे किया जाए, इसे लेकर जो बड़ी समस्याएँ हैं, उसको समझने-विचारने में मेरी रुचि है।

अंग्रेज़ी एज़ अ सोर्स ऑफ़ प्रिविलेज या मार्कर ऑफ़ प्रिविलेज का मसला है ... उसके बारे में भी हमें एक आत्मीय, बारीक़ व सटीक विवरण की दरकार है। ... न तो हमारे पास पहले से कोई सैद्धांतिक या प्रत्ययों की धरोहर है और न ही ... जो सिद्धांत है वह पूरी तरह से संस्कृति-निरपेक्ष है या संदर्भ-निरपेक्ष है। ... हमारी दुविधाएँ विशिष्ट दुविधाएँ हैं। ... श्रेष्ठ सामाजिक विज्ञान पैदा करने के लिए भारतीय भाषाओं में काम होना अनिवार्य है ... इसलिए नहीं कि इससे कोई भाषा-विशेष का उत्थान होगा, बल्कि इसलिए कि इससे हमारा सामाजिक विज्ञान बेहतर होगा।



राधावल्लभ त्रिपाठी : अभी तक जितनी चर्चा हुई उसमें एक बात श्रीश चौधरी ने कही, हालाँकि उस बात का ताल्लुक़ इस बात से नहीं है, जिसकी चर्चा यहाँ हो रही है। मगर अंग्रेज़ों से पहले पगार नक़दी में देने का रिवाज़ नहीं था ऐसा मैं सही नहीं मानता, क्योंकि कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में किस कर्मचारी को कितना वेतन दिया जाएगा, इस पर पूरा एक अध्याय है। अभयजी ने मेरा लेख छापा है, उसमें मेरा प्रश्न है कि कौटिल्य ने मज़दूर के लिए जितनी पगार रखी है उससे सौ गुना ज़्यादा मंत्री के लिए बताई है— इतना अंतर क्यों हैं? कल्हण ने *राजतरंगिणी* में बताया है कि अमुक व्यक्ति को कितनी तनख़्वाह मिलती थी, और वह कितनी घूस खा लेता था। जो अधिकारी थे, जो टैक्स देखते थे, उनकी व अन्य व्यक्ति की कितनी तनख़्वाह होती थी इस पर बहुत साहित्य मौजूद है। तो, मैं ऐसा नहीं समझता कि अंग्रेज़ों से पहले ऐसी व्यवस्था नहीं थी और उन्होंने ही आकर की।

दूसरा, यहाँ अंग्रेज़ी के इतिहास, उसकी ज़रूरत और अहमियत के बारे में बहुत सी बातें कही गयीं। उन्हें मैं स्वीकार करता हूँ। मेरे लिए अंग्रेज़ी की अहमियत बहुत अलग तरह की है और वह बात शायद यहाँ नहीं आयी है। मेरे लिए अंग्रेज़ी की ज़रूरत इसलिए नहीं थी कि मुझे नौकरी मिल जाती। अगर मैं अंग्रेज़ी बिल्कुल नहीं जानता तब भी मुझे यही नौकरी मिलती जो मुझे आज मिली है। मुझे युनिवर्सिटी में 1970-71 में जो नौकरी मिली, वह अंग्रेज़ी जाने बिना भी मिलती। मैं वाइस चांसलर भी रहा हूँ। केवल शिमला की फ़ेलोशिप नहीं मिलती, क्योंकि वहाँ अंग्रेज़ी में ही प्रस्ताव दिया जाता है और जो विदेश गया एक-दो बार वह नहीं जा पाता। उतना अंतर पड़ता बस। मेरे बहुत से विद्यार्थी रीडर हैं। हालाँकि आज परिस्थिति बदल गयी है। यह सही है। अंग्रेज़ी सामाजिक गतिशीलता के लिए, कॉरपोरेट सेक्टर के लिए और अन्य कारणों से जानना ज़रूरी है, लेकिन मुझे अंग्रेज़ी इसलिए जानना चाहिए कि जिन लोगों ने हम पर राज

किया, हमारी दुनिया बदली, अभयजी जैसा कह रहे हैं, हमारे आत्म से छेड़-छाड़ की, और मैं अब न वहाँ का रहा, न यहाँ का। तो उनकी भाषा में उनसे सवाल करूँ और उनकी भाषा में उनका जवाब दूँ। इसलिए अंग्रेज़ी जानना मेरे लिए ज़रूरी है।

दूसरी बात, मैं पण्डितों पर काम कर रहा हूँ ...। उनके बहुत सारे उदाहरण दे कर मैं बता सकता हूँ कि उस समय जो लोग अंग्रेज़ी सीख रहे थे, वह शायद इसी समस्या से जूझने के लिए अंग्रेज़ी सीख रहे थे। जो लोग इलाहाबाद के होंगे वे जानते होंगे कि हरीशचंद चट्टोपाध्याय सुभाष चंद्र बोस के सहपाठी थे। सुभाष ने उनको लिखा कि तुम भी मेरी आर्मी में आ जाओ। उन्होंने कहा मैं संस्कृत पढ़ रहा हूँ, वेद पढ़ रहा हूँ। सुभाष ने कहा यह सब बाद में होता रहेगा— अभी तुम आर्मी में आ जाओ। तो वे कहते हैं कि वेद पढ़ कर अंग्रेज़ों को उनकी भाषा में जवाब देना ज़्यादा ज़रूरी है, नहीं तो इस आज़ादी की लड़ाई का भी मेरे लिए कोई मतलब नहीं रहेगा। तो, मेरे लिए अंग्रेज़ी में पढ़ने-लिखने का एक मतलब यह भी है।

अब मैं कुछ बातें प्राच्यवाद पर भी करना चाहता हूँ जो अभयजी करवाना चाहते हैं। एक बात तो यह है कि हम लोगों के घरों में पिता को बाउजी कह कर बोलते थे और यह सीधे-सीधे बाबू शब्द से संबंधित है। इससे ग़लतफ़हमी यह होती है कि जो बाबू अंग्रेज़ी ने पैदा किया, वही बाबू हम अपने घर में ले आये और पिता को हमने बाबू कहना शुरू किया। पर मेरी यह ग़लतफ़हमी ख़त्म हुई जब बलराम शुक्ल से चर्चा की। हमने देखा कि इस शब्द का पुराना इतिहास है। हमारे साहित्य में बाबा, बाबू शब्द आ जाते हैं। संस्कृत के ज़रिये चल कर आये हैं ये शब्द। जो बाबू हमारे यहाँ था, बाप के रूप में, बाबा के रूप में, अब्बा के रूप में, बबुआ के रूप में, उसका जो फ़ारसी में तत्सम था, बाबू, उसको अंग्रेज़ों ने लिया और इस तरह से अंग्रेज़ों ने बाबू वर्ग पैदा किया।

एक जो इसमें रसगंध आ रही थी कि पुरुष के वर्चस्व से जुड़ा है। हम बाबूजी कहते थे जैसे वह पूरे परिवार की धुरी है, सत्ता हैं— तो उस शब्द की बड़ी अहमियत समझते हुए अंग्रेज़ों ने उस क्लास के लिए इस्तेमाल करना शुरू किया। जो बीए पास कर के निकला, वह बाबू बनेगा।

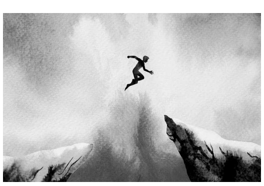
लेकिन इसके बीच एक बाबू वह पैदा हुआ जिन्होंने आधुनिक शिक्षा भी ली, अंग्रेज़ी भी सीखी, ख़ुद को बाबू भी कहना शुरू किया, लेकिन ख़ुद की पहचान खोजने और सवाल-जवाब की प्रवृत्ति थी। जैसे बाबू श्याम सुंदर दास, उनके नाम के आगे बाबू और बीए लगाए बिना नाम पूरा नहीं होता— बाबू श्याम सुंदर दास बी.ए.। ख़ाली श्याम सुंदर नहीं कहा जाता। बीए कर लेना उस समय उनके लिए बड़ी बात थी। वे बताना चाहते थे कि बीए करके और बाबू बन कर वे दुनिया का सामना कर सकते हैं। तीन गतियाँ बाबू के रूप में हुईं। एक बाबूजी जो हम परिवार में कहते थे, हमारी पीढ़ी तक यह रहा, अब ज़्यादातर पापा-डैडी हो गया। दूसरी गति श्याम सुंदर दास जैसे लोगों की हुई। तीसरी गति बाबू वर्ग जो पैदा किया अंग्रेज़ों ने। और जो प्राच्यवादी विमर्श हुआ उसमें भी लगभग तीन गतियाँ हुई और वे उल्टी दिशा से हुईं।

एक तो ऑरिएंटलिस्ट डिस्कोर्स में बात आयी, विलियम जोंस के साथ जो शुरू होती है। किस तरह से संस्कृत का युरोप की भाषाओं से संबंध है, इससे इंडो-यूरोपियन की धारणा आती है। उसके साथ ऑरिएंटलिस्ट डिस्कोर्स शुरू होता है और उसमें ऑरिएंटलिज़म पद आया और उस पर कुछ लोगों ने बात की। एक डेविड कॉफ़ की किताब आयी, 1969 में, *ब्रिटिश ऑरिएंटलिज़म ऐंड बंगाल रिनेसाँ,* जिसमें उन्होंने कहा कि इस ऑरिएंटलिज़म की वजह से ही रिनेसाँ सम्भव हुआ और बंगाल में नयी चेतना आयी। उसके बाद एडवर्ड सईद की किताब आती है, जिस पर काफ़ी विवाद हुआ। इसमें उन्होंने ग्राम्शी के और फ़ूको के पैराडाइम के आधार पर मीमांसा की। उसके बाद डॉडसन की किताब आती है जिसमें उन्होंने ऑरिएंटलिज़म की तीसरी गति की बात की। तो यह विलियम जोंस

से शुरू कर के ऑरिएंटलिज़्म का जो डिस्कोर्स था, वह एक पक्षीय हो जाता है, जो कहता है कि यह सत्ता और राजनीति का समीकरण था। और जोंस से लेकर डॉडसन तक पण्डितों ने किस प्रकार संवाद किया और अन्य यूरोप के ऑरिएंटलिस्ट्स यहाँ आये उनके साथ संस्कृत के पण्डितों का संवाद भी हुआ, यह तीसरी दशा वे उसकी बताते हैं।

प्राच्यवाद ... से जुड़ा हुआ अनुशासन ऑरिएंटल लर्निंग का है, उस पर बहुत चर्चा हमारे यहाँ हुई, और बहुत से संस्थान बने। तो डेविड कॉफ़, डॉडसन इत्यादि एशियाटिक सोसाइटी की चर्चा तो करते हैं पर इस बात की चर्चा नहीं करते कि पूना, मैसूर इत्यादि में रिसर्च संस्थान, जो ऑरिएंटलिस्ट स्टडी पर स्थापित हुए, वे कौन लोग स्थापित कर रहे थे। वे जो प्राच्यवाद के संस्थान बना रहे थे वे विलियम जोंस तो नहीं थे। वे तो भण्डारकर साहब थे। ... इस तरह से तक़रीबन सौ प्राच्यवादी विद्या संस्थान नब्बे के दशक के अंत तक स्थापित हुए।

मैं इन सब से हट कर एक बात यह कहना चाहता हूँ कि न डेविड काफ़ का, न सईद का, न डॉडसन का ध्यान इस पर गया कि ऑरिएंटलिज़्म का जो अनुवाद प्राच्यवाद होता है, उसका डिस्कोर्स उस तरह से भारतीय भाषाओं में नहीं आया जिस तरह से अंग्रेज़ी में आया। जिस तरह से हुआ, वह हिंदी में अनुवाद कर के या अन्य भाषाओं में अनुवाद कर के हुआ। हमारा अपना भीतरी डिस्कोर्स प्राच्यवाद को लेकर नहीं आया। लेकिन उससे जुड़ा हुआ अनुशासन ऑरिएंटल लर्निंग का है, उस पर बहुत चर्चा हमारे यहाँ हुई, और बहुत से संस्थान बने। तो डेविड कॉफ़, डॉडसन इत्यादि एशियाटिक सोसाइटी की चर्चा तो करते हैं पर इस बात की चर्चा नहीं करते कि पूना, मैसूर इत्यादि में रिसर्च संस्थान, जो ऑरिएंटलिस्ट स्टडी पर स्थापित हुए, वे कौन लोग स्थापित कर रहे थे। वे जो प्राच्यवाद के संस्थान बना रहे थे वे विलियम जोंस तो नहीं थे। वे तो भण्डारकर साहब थे। वे बहुत से सवाल अंग्रेज़ों के आगे उठा रहे थे। ये वे लोग थे। इस तरह से तक़रीबन सौ प्राच्यवादी विद्या संस्थान नब्बे के दशक के अंत तक स्थापित हुए। यह जो पूरा ऑरिएंटलिस्ट डिस्कोर्स है वह भारतीय भाषाओं में नहीं आया। इसलिए भारतीय भाषाओं में जो विमर्श होगा वो भिन्न प्रकार का विमर्श होगा। वो डेविड काफ़, या सईद का विमर्श नहीं हो सकता। हम उसे प्राच्य विद्या बना कर उसमें अपना विमर्श क़ायम करते हैं। इसमें बहुत सारे पण्डित आते हैं। इसमें बाल गंगाधर तिलक भी वेदों पर लिखते हैं। बहुत से पारम्परिक पण्डित भी हुए। ये लोग थोड़ा बहुत अंग्रेज़ी सीख रहे थे। इन लोगों ने किस तरह से वेबर और मैक्समूलर की समीक्षा की। यह उन्होंने अपनी शैली में की। ये पण्डित मैक्समूलर के काम पर सवाल उठा रहे थे। जैसे पण्डित द्विवेदी इत्यादि। इस तरह इस दौर में बहुत से ग्रंथ आये। यह भी एक संसार था हमारा और अगर आज हम जानकारी नहीं रखते तो मैं कहूँगा यह अज्ञान है हमारा।



श्रीश चौधरी : मैं एक स्पष्टीकरण देना चाहता था कि मैंने नहीं कहा कि भारत में वेतन देने की परम्परा ही नहीं थी। मैंने स्पष्ट कहा कि 1707 के बाद जो अराजकता आयी भारत में, औरंगज़ेब के देहांत के बाद, उसमें दो तीन चीज़ें बहुत असुरक्षित हो गयीं। काम के लिए वेतन, आय के लिए सम्पत्ति का अधिकार, यह कोडीफ़ाइड आपका अधिकार है कि पिताजी के देहांत के बाद वह सम्पत्ति आपकी हो जाए, ऐसा बहुत बाद में हुआ भारत में। उसी तरह से अंग्रेज़ भी ज़्यादा वेतन नहीं दे रहे थे। जो रेलवे लाइन बनी, उसमें जहाँ अंग्रेज़ इंजीनियर पाँच रुपये प्रतिदिन पाते थे, वहीं भारतीय इंजीनियर सवा रुपया प्रतिदिन पाते थे। बाक़ी मजदूर चार आना ही पाते थे। लेकिन वह रोज़ उनको मिल जाता था। जबकि यहाँ स्थिति

ऐसी थी कि फ़ौज के सिपाही को भी चाहे वो रणजीत सिंह रहे हों या टीपू सुल्तान रहे हों, सिपाहियों को तनख़्वाह तभी मिलती थी जब जीत के बाद लूट-पाट होती थी। अंग्रेज़ों को इसलिए सिपाही मिलते रहे कि उन्होंने वह एक रुपया या चार आना जो भी तय किया था वह दिया। और अगर सिपाही लड़ते हुए मर गया तो उसके परिवार को भी दिया। यह एक व्यवस्था थी जो बहुत बड़ा कारण हुआ उनके लिए भारतीयों का समर्थन प्राप्त करने का। बाक़ी आपने जो कहा मैं उससे सहमत हूँ।



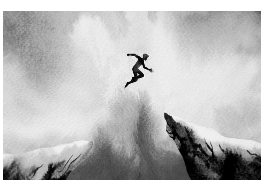
वीणा नरेगल : इस मुक़ाम पर मेरे पास दो-तीन मुद्दे हैं बोलने के लिए। हमारी इस चर्चा के लिए इतिहास और भाषा के प्रश्न को सम्बोधित करना महत्त्वपूर्ण है। लेकिन, इसी के साथ अंग्रेज़ी और क्षेत्रीय भाषाओं के बीच संबंधों पर भी ग़ौर करना ज़रूरी है। यह एक उलझा हुआ संबंध है जिसे इतिहास के दायरे में सुलझाया जाना ज़रूरी है। हम जानते हैं कि क्षेत्रीय भाषाओं और अंग्रेज़ी के बीच एक पदानुक्रम वाला यानी ऊँच-नीच वाला संबंध है जिसे किसी समतामूलक संबंध के ज़रिये प्रतिस्थापित नहीं किया जा सका है, और न ही इस पदानुक्रम को ख़त्म करने का कोई तरीक़ा हम अभी तक ईज़ाद कर पाए हैं। दरअसल, हमें उन कारणों की समझ बनानी होगी जिनकी वजह से यह पदानुक्रम वाला संबंध स्थापित हुआ और क्षेत्रीय भाषाएँ अंग्रेज़ी की अधीनता में चली गयीं। हम जानते हैं कि इतिहास में पीछे जा कर हमें दिखता है कि किस तरह प्राच्यवादी परियोजना और भारतीय भाषाओं के दायरे में छापाख़ाने की संस्कृति के उदय का इन भाषाओं पर असर पड़ा। यह इतिहास आगे जा कर बीसवीं सदी की शुरुआत में भाषावार प्रांतों के विचार की अवधि के विकास तक जाते हुए काफ़ी लम्बा और विस्तृत हो जाता है। इस दौरान अंग्रेज़ी के दायरे के भीतर एक घटनाक्रम चला, अंग्रेज़ी सत्ता और सुविधा की भाषा के तौर पर स्थापित की गयी, और विभिन्न भाषाओं के बरअक्स और लोकतंत्र की सम्भावनाओं के संदर्भ में इतिहास आगे बढ़ा। इतिहास के ये सभी पेचोख़म और उनसे संबंधित समझ में परिवर्तन हुआ है, उनका विकास हुआ है। इस सब बातों के बारे में तो सोचना ही है और उसके साथ-साथ इस बात के बारे में भी सोचना ज़रूरी है कि आख़िर भाषा और लोकतंत्र के आपसी संबंधों में और भाषाई दायरे में लोकतंत्र के बारे में अभी तक क्यों नहीं चिंतन किया जा सका। यह एक दिलचस्प सवाल है कि हमारे पास राष्ट्र-राज्य की जो आलोचना है, वह भाषा के प्रश्न पर आकर क्यों रुक जाती है? पिछले तीस साल में धर्म, जेंडर और जाति के संदर्भ में ही यह आलोचना हुई है।

बीसवीं सदी के शुरू में यानी बीस के दशक में (वह ऐतिहासिक मुक़ाम जब गाँधी के गतिशील नेतृत्व में कांग्रेस को जनांदोलन का रूप मिला) हमारे संघीय ढाँचे की कल्पना की जा रही थी, और उसके कई दशक बाद तयशुदा प्राथमिकताओं के तहत सुचिंतित रूप से इसे भाषावार प्रांतीय इकाइयों के पुनर्गठन के रूप में कारगर रूप दिया गया। ऐसा लगता है कि यह जो भाषावार प्रांतों का विन्यास था, वह उस जन-गोलबंदी की अनुक्रिया में किया गया जो पहले ही हो चुकी थी। यह भी लगता है कि उस गोलबंदी से जो प्रक्रियाएँ चली थीं, उन्हें क़ाबू में करने के लिए यह करना एक तरह से ज़रूरी हो गया था।

इसके बाद मील का अगला पत्थर नेहरू रपट में दिखाई देता है। यह रपट भारतीय संविधान के ब्लू प्रिंट की तरह मानी जाती है। इसी रपट में भाषावार प्रांतों का विचार भारतीय राष्ट्र-राज्य की अधिकारिक दृष्टि के रूप में उभरता है। 1928 की इस रपट में सारी चर्चा 1916 के लखनऊ समझौते में प्रदान किये गये पृथक मतदातामण्डलों की माँग को ख़ारिज करने की ज़रूरत पर बल देने के लिए की गयी थी। दरअसल, 1916 में कांग्रेस मोर्ले-मिंटो सुधारों के अंग के रूप में साम्प्रदायिक आधार पर मतदातामण्डल बनाने पर सहमत हो गयी थी। यह देखना दिलचस्प है कि नेहरू रिपोर्ट लखनऊ पैक्ट और पूना पैक्ट के बीच स्थित है। वह दो काम करना चाहती है। पहला, साम्प्रदायिक आधार पर

मतदातामण्डलों की जगह मिले-जुले मतदातामण्डल क़ायम करना, और भाषाई आधार पर पूरे देश के नक़्शे को दोबारा खींचना। मुझे लगता है कि इस पहलू पर विचार करके भाषा के प्रश्न का इतिहास के दायरे में संधान किया जा सकता है और पता लगाया जा सकता है कि हम आज के मुक़ाम तक कैसे पहुँचे। मुझे यह भी लगता है कि इस तरह से अगर हम विचार करेंगे तो समाज-विज्ञान के बारे में जो बेहद अहम मुद्दे यहाँ उठाए जा रहे हैं, उन पर भी और गहराई से विचार किया जा सकेगा। हम देख सकेंगे कि अकादमिक जगत और भारतीय भाषाओं के बीच संबंध किस तरह के बने और स्थिर न रह कर बदलते रहे। आख़िरकार समाज-विज्ञान का काम क्षेत्रीय घटनाक्रम को समझना भी तो है। मुझे यक़ीन है कि समाज-विज्ञान के दायरे में इसे समझने का लक्ष्य निर्धारित किया जाना चाहिए और किया जाएगा। देखना पड़ेगा कि क्या अकादमिक है, क्या क्षेत्रीय है, भारतीय भाषाएँ क्या हैं। इनके दायरे क्या हैं और उनके बीच क्या संबंध है। इन श्रेणियों को भी स्थिर श्रेणियों की तरह ग्रहण नहीं किया जा सकता। अगर अंग्रेज़ी और भारतीय भाषाओं के बीच बदलते हुए संबंधों पर पकड़ बनाई जा सके, तो जिस तरह से समाज-विज्ञान कल्पित किया गया है, उसे भी समझा जा सकेगा।

> **क्षेत्रीय भाषाओं और अंग्रेज़ी के बीच ... ऊँच-नीच वाला संबंध है ... न ही इस पदानुक्रम को ख़त्म करने का कोई तरीक़ा हम अभी तक ईज़ाद कर पाए हैं। हमें उन कारणों की समझ बनानी होगी जिनकी वजह से ... क्षेत्रीय भाषाएँ अंग्रेज़ी की अधीनता में चली गयीं। ... आख़िर भाषा और लोकतंत्र के आपसी संबंधों में और भाषाई दायरे में लोकतंत्र के बारे में अभी तक क्यों नहीं चिंतन किया जा सका। ... हमारे पास राष्ट्र-राज्य की जो आलोचना है, वह भाषा के प्रश्न पर आकर रुक क्यों जाती है? पिछले तीस साल में धर्म, जेंडर और जाति के संदर्भ में ही यह आलोचना हुई है।**



प्रबाल दासगुप्ता : एक सवाल है जो मैंने उस समय कुछ कम उपयोगी तरीक़े से ही सही, पर रखने की कोशिश की थी जब नब्बे के दशक में सतीश देशपाण्डे और दूसरे मित्र हैदराबाद विश्वविद्यालय में काम कर रहे थे। आज जो मैं कहना चाहता हूँ वह सवाल उसका प्रस्थान-बिंदु हो सकता है। मेरा सवाल उन परिभाषाओं से जुड़ा है जो राज्य की संस्था और उसकी सत्ता के बारे में आम तौर पर दी जाती हैं। इनमें एक है मैक्स वेबर की परिभाषा जो कहती है कि राज्य के पास हिंसा करने की इजारेदारी होती है। एक निश्चित भू-क्षेत्र में दमनकारी प्रणाली संचालित करने का अधिकार राज्य के पास होता है। वेबर की इस परिभाषा की कई आलोचनाएँ हुई हैं, पर इस बुनियादी बात को सभी मानते हैं कि राज्य के पास दमन की मशीन और उसे चलाने की क्षमता होती है। यहाँ मुझे लगता है कि समाज-विज्ञान के चिंतन में एक बुनियादी चूक हुई है। हाँ, सतीश ने उस समय एक दूसरे स्तर से इस बात की तरफ़ मेरा ध्यान आकर्षित किया था। कहने का मतलब यह है कि सभ्यता के विकास में जिन मुक़ामों पर राज्य की संस्था का उदय होता है, जैसे मिस्र आदि, उन्हीं मुक़ामों और समयों पर लिखित भाषा का भी उदय होता है। हम कह सकते हैं कि वेबेरियन शब्दावली में जब राज्य की संस्था का इतिहास लिखा जाता है, तो साथ-साथ लिखने का इतिहास भी साथ-साथ परवान चढ़ता हुआ दिखता है। इस तरह से देखने पर हमें भाषा का शुरुआती इतिहास को समझने का एक और मौक़ा मिलता है कि किस तरह बोली गयी भाषा का इतिहास कितना पुराना है और लिखित भाषा का इतिहास कितना छोटा है, ज़्यादा से ज़्यादा दस हज़ार साल पुराना। लिखी जाने वाली भाषा के इतिहास के परे जाते हुए हमें इसके आर्थिक समकक्ष लगने वाले स्थिर पूँजी और परिसंचरित पूँजी के बीच के अंतर पर भी ग़ौर करना

होगा। यहाँ मैं कहना यह चाहता हूँ कि अख़बार में छपने के लिए कोई सूचना लिखी जाती है जो सबके लिए उपलब्ध है और फिर वह समाचारपत्र के अभिलेखागार में सिमट जाती है जिस तक केवल विशेषज्ञों की ही पहुँच हो पाती है। इसका एहसास मुझे है कि तब से अब तक यह सवाल कुछ बदल गया है। अब नये अख़बार इलेक्ट्रॉनिक शक्ल-सूरत में आ गये हैं, और कोई चाहे तो अभिलेखागार में जाए बिना उनमें खोजबीन कर सकता है। साथ ही असलियत यह भी है कि आप पचास साल पहले का अख़बार तलाशते हुए किसी साधारण पाठक को नहीं पाएँगे। अभी पुरानी आदत जारी है जिसके तहत हम अख़बार हाथ में लेकर पढ़ना चाहते हैं जिसमें छपने के लिए ख़बरें लिखी जाती हैं। इस लिहाज़ से मेरी निगाह में अख़बारी लेखन परिसंचरित पूँजी जैसा है।

हो सकता है यह कहते हुए मैं कुछ अधकचरा सा लगूँ लेकिन यहाँ मेरी कोशिश एक प्रश्न उठा कर एक शुरुआती मानक क़ायम करने की है। अस्सी के दशक में डेविड ब्लीच ने किताब लिखी थी *डबल पर्सपेक्टिव* जिसका उपशीर्षक था *लेंग्वेज, लिटरेसी ऐंड सोशल रिलेशंस*। इस पुस्तक में डेविड कहते हैं कि उस समय क्या होगा जब अकादमी द्वारा बनाए गये सिलसिले को उलट दिया जाए— यानी उस सिलसिले को जिसके तहत अधिकृत पुस्तकों, जर्नलों, लेखों और अध्यापन में मदद करने वाली सामग्री में उत्पादित किये गये ज्ञान को विश्वविद्यालय के अध्यापक छात्रों को उपभोग किये जा सकने वाले रूप में पेश करते हैं। डेविड पूछते हैं कि क्या होगा अगर ज्ञान के उत्पादन की प्राथमिक जगह छात्रों का दिमाग़ हो जाए? अगर ज्ञान का गुरुत्व-केंद्र युवाओं के दिमाग़ में स्थानांतरित हो जाए तो क्या होगा? अगर ज्ञान छात्रों के दिमाग़ में घटित होगा तो वे सारी किताबों का महत्त्व दूसरे दर्जे का हो जाएगा। तो डेविड पूछ रहे हैं कि क्या इस तरह की उलट-पुलट सम्भव है। मैं समझता हूँ कि यह प्रश्न हमारी लोकतंत्र संबंधी समझ से भी संबंधित है। लोकतंत्र का ताल्लुक़ बातचीत और संवाद से होता है जहाँ लोग एक ऐसी समझ पर पहुँचना चाहते हैं जिससे वे व्यक्तिगत रूप से संतुष्ट हो सकें, साथ ही लोकतंत्र का ताल्लुक़ ऐसी बड़ी समष्टिगत संरचनाओं से भी है जो प्रभावी ढंग से काम कर सकें और परिवर्तन हो सके। समस्या यह है कि ऐसे समष्टिगत लक्ष्य कल्पित करना आसान होता है, पर उन्हें ज़मीन पर उतरते देखना इतना सुखद नहीं होता। इस तरह लोकतंत्र में एक ठोस अभिलेखागार होता है जिसे हर कोई एक स्तर पर गम्भीरता से लेना चाहता है, और एक तरल परिसंचरण करती हुई सामग्री होती है।

मेरे ख़याल से भाषा के संदर्भ में कुछ ऐसा ही हो रहा है। ज़्यादातर भाषाई गतिविधियों में हो यह रहा है कि भारतीय भाषाओं में परिसंचरणकारी पूँजी है और अंग्रेज़ी में ठोस स्थिर पूँजी है। मैं जानता हूँ कि यह सूत्रीकरण अधकचरा है। यह चर्चा की शुरुआत करने-भर के लिए है। अगर हम राज्य को परिभाषित करते हुए स्थानों और भाषाओं को पहला स्थान दें, और हिंसा व बल-प्रयोग को दूसरा स्थान दे सकें, तो हम एक तरह से हान्ना अरेंत के विचार पर पहुँच जाएँगे जिसे हैबरमास ने अपने एक लेख में उठाया जो सत्तर के दशक में *जर्नल ऑफ़ सोशल रिसर्च* में प्रकाशित हुआ था। यहाँ हैबरमास कहते हैं कि जब किसी लोकतंत्र में लोग आपस में तसल्लीबख़्श सलाह-मश्विरा करके किसी निर्णय पर पहुँचते हैं और फिर उस ज़रूरत पर बल देते हैं कि अब इस निर्णय को लागू करना है। ऐसे निर्णय से निकलने वाली सत्ता किसी एक की इच्छा के आधार पर असहमतों पर थोपे जाने वाले वाले निर्णय से भी अधिक ताक़तवर होती है। लोग थोपी जाने वाली सत्ता की बात करते हैं, पर अरेंत और हैबरमास कहना चाहते हैं कि क्या राज्य को परस्पर संतोषजनक चर्चा के ज़रिये लागू किये जाने वाले निर्णयों से जुड़ी संस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है? मेरी बात को अरेंत और हैबरमास के विचारों पर एक लम्बी पाद-टिप्पणी के तौर पर समझा जा सकता है। मैं जानता हूँ कि भाषा-विज्ञान समाज-वैज्ञानिकों और उनके उन कामों के बिना काम नहीं कर सकता जो वे पिछले चार सौ साल से नहीं कर रहे हैं। समाज-वैज्ञानिक तो सत्ताधारियों को सलाह देने में

07_parisamvad:Layout 1 03-Oct-19 3:40 PM Page 133

व्यस्त रहते हैं। ठीक भी है, समाज-विज्ञान की शुरुआत भी तो इसी तरह हुई थी, और सत्ताधारियों को उनकी सलाह की ज़रूरत भी है। लेकिन अगर समाज-वैज्ञानिक लोगों को सलाहकार बन जाएँ तो परिवर्तन की शुरुआत हो सकती है।

अगर हम राज्य को परिभाषित करते हुए स्थानों और भाषाओं को पहला स्थान दें, और हिंसा व बल-प्रयोग को दूसरा स्थान दे सकें, तो हम एक तरह से हान्ना अरेंत के विचार पर पहुँच जाएँगे जिसे हैबरमास ने अपने एक लेख में उठाया जो सत्तर के दशक में *जर्नल ऑफ़ सोशल रिसर्च* में प्रकाशित हुआ था। यहाँ हैबरमास कहते हैं कि जब किसी लोकतंत्र में लोग आपस में तसल्लीबख़्श सलाह-मशविरा करके किसी निर्णय पर पहुँचते हैं और फिर उस ज़रूरत पर बल देते हैं कि अब इस निर्णय को लागू करना है। ऐसे निर्णय से निकलने वाली सत्ता किसी एक की इच्छा के आधार पर असहमतों पर थोपे जाने वाले वाले निर्णय से भी अधिक ताक़तवर होती है। ... अरेंत और हैबरमास कहना चाहते हैं कि क्या राज्य को परस्पर संतोषजनक चर्चा के ज़रिये लागू किये जाने वाले निर्णयों से जुड़ी संस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है?



मुकुल प्रियदर्शनी : कई बातें कही जा चुकी हैं। कुछ पर मेरी प्रतिक्रिया रहेगी। दो-तीन बातें है। एक तो जो वीणा ने कही, मेरा भी वही मुद्दा था। वर्चस्व की भाषा और उसके साथ भाषाई बहुलता— इन दोनों को देखे जाने की ज़रूरत है। ऐसे क्या-क्या संकेत बिंदु हो सकते हैं, जिनके संदर्भ में हम इन सारे मुद्दों से जूझ सकते हैं। एक वर्चस्व की भाषा और भाषाई बहुलता का मुद्दा, दूसरा व्यक्तिगत स्तर पर और सामूहिक स्तर पर भाषाओं की क्या भूमिका है। हमारे मौजूदा दौर में, ऐतिहासिक संदर्भ में उसे देखने की ज़रूरत है। यहाँ ये दोनों बिंदु एक साथ एक-दूसरे से जुड़ जाते हैं। वह इस मायने में कि भाषाई बहुलता की औपनिवेशिक दौर में क्या स्थिति थी। उसके बाद क्या स्थिति थी। अभी नव-उदारतावादी दौर में क्या स्थिति है। किस हद तक है? किन दायरों में है? क्या शहरी परिवेश में भी उतनी है, जितनी शहर के बाहर क़स्बों के परिवेश में है। वहाँ है या नहीं? वह चीज़ भी देखे जाने की ज़रूरत है। दूसरी चीज़ यह कि सतीशजी ने कहा कि भाषा हमारे लिए क्या है। भाषा हमारे मानस का किस रूप में हिस्सा है। उसके संदर्भ में देखें तो भाषा तो सबसे पहले दुनिया को देखने-समझने की दृष्टि देती है और अगर वह दुनिया को समझने की दृष्टि देती है तो उस पर किसी विशेष भाषा में सोचा जाए तो उसी के अनुसार एक ख़ास क़िस्म के समाजशास्त्र को जन्म होगा। भाषा यहाँ हमारे लिए व्यक्तिगत स्तर पर टूल का काम करती है, जिसके ज़रिये हम दुनिया को देखते-समझते-परखते हैं और उसी के हिसाब से समाज-विज्ञान का क्या रूप होगा— यह निर्धारित होता है। इन सब बिंदुओं को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना ज़रूरी है।

तीसरी चीज़ यह है कि आज़ादी के बाद क्या स्थिति रही है भाषाओं की। एक तो यह कि औपनिवेशिक दौर में क्या रहा है। और उत्तर-औपनिवेशिक दौर में क्या रहा है। पोस्ट-कोलोनियल माइंड सेट जो हमारा है वह किस हद तक अभी भी जारी है, किस हद तक बदला है। तो उसके संदर्भ में हमें यह मसला देखना होगा क्योंकि मौजूदा दौर में हम भाषाओं की स्थिति देखते हैं— अंग्रेज़ी के बरअक्स दूसरी भाषाएँ, तो उसमें कितना कुछ उन्नीसवीं शताब्दी में जो हुआ उससे यह प्रभावित है या आज़ादी के बाद जो बदला उससे यह प्रभावित है।

तो मौजूदा दौर में भाषाओं को लेकर हमारा रुख़ क्या है, व्यक्तिगत तौर पर भाषाएँ हमारे लिए क्या हैं, सामूहिक तौर पर भाषाएँ हमारे लिए क्या हैं? उसे बरतते हैं या नहीं बरतते? क्या उनके दायरे हमने निर्धारित कर दिये हैं? वह अलग-अलग दायरे बनना, पहले क्या था, अब क्या इस संदर्भ में भी

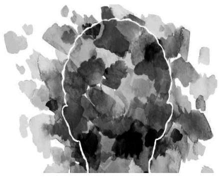
हमें उन सब को देखने की ज़रूरत है? राकेशजी आपने बात कही थी किट की, और सतीशजी ने भी। समाजशास्त्र में हमारे पास बना-बनाया किट नहीं है। मुझे लगता है कि दोनों बिंदु एक जगह आकर जुड़ते हैं। किट अगर है कलाओं के क्षेत्र में तो भी, और समाजशास्त्र में नहीं है तो भी, मुझे लगता है कि जब तक हम उसे बरतने के दायरे में नहीं लाते तब तक वह किट हमारी बातचीत में विमर्श का हिस्सा नहीं बनता और यह दुष्चक्र चलता रहता है।

दूसरी ओर प्रश्न यह है कि अलग से क्या विकसित किया जाए? जैसे हमारी भारत सरकार करती रहती है, कई शब्दावलियाँ बना कर। उन शब्दावलियों से हम समाज-विज्ञान नहीं गढ़ सकते, विज्ञान नहीं गढ़ सकते। जब तक अलग-अलग दायरों में हम भाषाओं का अधिक से अधिक इस्तेमाल नहीं करेंगे, तब तक वह मुहावरा नहीं गढ़ा जा सकता— तब तक उस दृष्टि को गढ़ा जाना मुश्किल है। इसी तरह से अगर किट है भी तो अगर हम इसे बरतने के दायरे में नहीं लाते तो इसका मौजूद होना बेमानी है। बात घूम फिर कर वहीं आ जाती है कि हम किस हद तक किन भाषाओं का इस्तेमाल कर रहे है। यह विविध संदर्भ में देखे। रही अंग्रेज़ी की बात, थोपी गयी या माँगी गयी? मुझे लगता है कि दो तरह की अंग्रेज़ियाँ हैं— इंग्लिश एज़ अ लेंग्वेज ऑफ़ एसपिरेशन और इंग्लिश एज़ अ लेंग्वेज ऑफ़ कम्पल्शन। फिर जिसको हम एसपिरेशन मानते हैं, कहीं न कहीं उसके बीज में एक कम्पल्शन ही है। कम्पल्शन हम महसूस कर रहे हैं, इसलिए हम एसपिरेशन की भाषा अंग्रेज़ी को मान रहे हैं। तो उन दोनों के बीच के फ़र्क़ को भी समझाया जाना ज़रूरी है। एक बात मैं दुहराना चाहूँगी कि आज़ादी के बाद एक समय में कैसे तेज़ी से चीज़ें बदली हैं। इसका लेखा-जोखा अगर हम गम्भीरता व गहराई से लेते हैं तो शायद जो हमारा मौजूदा ख़ाका है भाषाओं का और अंग्रेज़ी के बरअक्स जो है, उसे ज़्यादा बेहतरीन तरीक़े से समझ और देख पाएँगे।



ज्योति दिवाकर : ज़्यादा समझ नहीं है. पर जितनी भी समझ बन पाई है, उसके आधार पर बोलूँगी। मेरा एक संदर्भ है जिसके आधार पर मैं बोल रही हूँ। बिहार के स्कूलों में फ़ील्डवर्क कर रही थी। वहाँ पर बच्चों से पूछा जाता था कि कौन सा विषय पसंद है तो बोलते थे कि अंग्रेज़ी पसंद है, ख़ासकर लड़कियाँ। तो हम पूछते थे कि क्यों? क्या मिल जाएगा अंग्रेज़ी पढ़ कर, क्या सीख लोगी? उन्होंने कहा कुछ कर लेंगे। यह एसपिरेशन जुड़ा हुआ है। अब वह किस तरह से कम्पल्शन बन गया, वह हम मार्केट डोमेन से समझ सकते हैं। लेकिन जितनी भी समझ मैं राजनीति में बना पाई, उसमें भाषा की भी एक राजनीति निकल कर आती है। जो वर्चस्व वाली भाषा है वह हमेशा से कुछ चुनिंदा लोगों की पहुँच में रही है। जो ज्ञान भी निकल कर आ रहा है वह उन्हीं मुद्दों पर निकल कर आ रहा है ...।

तो जब आप भाषा और ज्ञान-निर्माण की बात करते हैं तो वर्नाकुलर भाषा उत्तरी या हिंदी भाषाओं तक नहीं रह जाती। आपकी बात सही है कि भाषा कहीं-न-कहीं प्रिविलेज को भी दिखाती है, तो यदि अगर आप मेनस्ट्रीम भाषा बोल रहे हैं तो कहीं-न-कहीं प्रिविलेज है कि आप इसे एक्सेस कर पा रहे हैं। यदि आप एक्सेस नहीं कर पा रहे तो आप उस बाज़ारीकरण के दौर से और एसपिरेशन से भी पीछे हट जाते हैं। पर जो चीज़ मुझे समझ आयी लोगों से बात कर के कि अगर हम भाषाओं के अंदर उन शब्दों को जोड़ना शुरू कर दें जो अलग-अलग भाषाओं से आ रहे हैं, किसी भी भाषा के भीतर, लेकिन कुछ शब्द जो वर्नाकुलर से आते हैं, यहाँ बस हिंदी की बात नहीं— कन्नड़, मलयालम अन्य भाषा, मतलब अगर हम उनका स्पेस बढ़ा दें और उन्हें तकनीकी के साथ जोड़ कर समझने की कोशिश करें, म्युज़िक या फ़िल्मों के ज़रिये लाने की कोशिश करें तो शायद हम भाषा के वर्चस्व व भाषा की बहुलता की खाई को थोड़ा कम कर सकते हैं।



राकेश पाण्डेय : बस मैं एक बात यहाँ जोड़ देना चाहता हूँ। पाणिनि या पतंजलि का नाम लेकर मैं कोई बवण्डर नहीं खड़ा कर रहा हूँ। मेरा यह कहना है कि वह सब हमारे दायरे में है। हम उस पर विचार करें। भाषाओं को लेकर कोई सिद्धांत या समझ है या नहीं, वो हम बना सकते हैं, इस सब की मदद से।

मैं इतिहास लिखता हूँ। मुझसे कोई कहे कि आप एक आधुनिक इतिहास लिखें, जिसमें आपके पास ऐसी शब्दावली हो जो आपको लगे कि सुसंगत शब्दावली है, जिसमें आप समाज-विज्ञान का इतिहास लिख सकते हैं। मेरा यह कहना है कि मैं अपने अनुभव से, उस किट के तैयार किये जाने के दो सौ साल के इतिहास के कई उदाहरण दे सकता हूँ। बड़ा मज़ेदार इतिहास है, उसमें बड़ा रोमांच है, बड़ा ही रोचक इतिहास है, क्योंकि मैं जानता हूँ इसलिए तो हज़ारों उदाहरण दे सकता हूँ। हमारा आर्काइव भरा पड़ा है। और यह खेल बहुत पहले शुरू हो जाता है। वह औरंगज़ेब से शुरू हो जाता है, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक तो किट बहुत परिपक्व हो जाता है। नया विज्ञान कैसे रचा जाए, नया ज्ञान कैसे रचा जाए— इस पर बहुत बहसें हैं। बहुत बारीक़ बहसें हैं।

... उस किट के तैयार किये जाने के दो सौ साल के इतिहास के कई उदाहरण दे सकता हूँ। ... हमारा आर्काइव भरा पड़ा है। और यह खेल बहुत पहले शुरू हो जाता है। वह औरंगज़ेब से शुरू हो जाता है, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक तो किट बहुत परिपक्व हो जाता है। नया विज्ञान कैसे रचा जाए, नया ज्ञान कैसे रचा जाए— इस पर बहुत बहसें हैं। बहुत बारीक़ बहसें हैं। ... अगर कोई सर्वे हो भारतीय भाषाओं में तैयार पाठ्यपुस्तकों पर, तो हमें आश्चर्य होगा कि अंग्रेज़ी को समझने और अनुवाद के लिए भारतीय भाषाओं में कितने प्रयास हुए।

एक तो किट है कि जो हमारे पास है। भारतीय भाषाओं में उसकी भरमार है। उसमें एक दूसरा पक्ष है। इसे हम दूसरी तरह से देख सकते हैं। अगर कोई सर्वे हो भारतीय भाषाओं में तैयार पाठ्यपुस्तकों पर, तो हमें आश्चर्य होगा कि अंग्रेज़ी को समझने और अनुवाद के लिए भारतीय भाषाओं में कितने प्रयास हुए। तथ्यात्मक दृष्टि से देखें तो हमें यह देख कर ताज्जुब होगा कि विज्ञान, समाजशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र वग़ैरह करने के लिए यह किट किस तरह तैयार किया गया। मैं एक उदाहरण दे कर अपनी बात ख़त्म करूँगा। मैं अपने एक मित्र हिमेंद्र को आज याद कर रहा हूँ। वे बीएससी के छात्र थे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में। वे गणित की कक्षा के बाद अकसर हमारे यहाँ आया करते थे और जब उनसे बोर्ड पर कहा जाता था काम करो तो वे बीएससी प्रथम वर्ष में कोज्या वर्ग और कौटिज्या वर्ग में ज़्यादा तेज़ी से गणनाएँ करके दिखाते थे। उनका एक ऐसे विद्यालय में प्रशिक्षण हुआ था जहाँ वे बीजगणित और रेखागणित में इस भाषा में ही सोचना सीख गये थे। इसमें उन्हें दो साल लगे। आजकल वे आईआईटी, खड़गपुर में कार्यरत हैं। वे इसरो के साथ भी काम कर चुके हैं। मैं यह कह रहा हूँ कि इस समाज में भारतीय भाषाओं में ज्ञानार्जन और उसमें सोचना होता रहा है, उनकी शब्दावली चलती रही है, और यह आज भी है। इस चीज़ को हमें सहज रूप से मान्यता देनी चाहिए। मैं इसलिए यह कह रहा हूँ कि यह मान्यता हमें भिन्न दिशा में ले जाएगी— उस दिशा में जहाँ हम अंग्रेज़ी से अलग ढंग से अन्योन्यक्रिया करेंगे और आधुनिक भारतीय भाषाओं में नवाचार करेंगे। यह हमारे लिए बहुत उपयोगी होगा। *(**आदित्य निगम :** आपकी किताब का इंतज़ार रहेगा। मैं ज़रूर देखूँगा। आपके आज तक छपे पर्चों में तो मैं नहीं देख पाया। मुकुलजी आप भी जो बरतने वाली बात बोल रही थीं, उसे आपको वास्तव में कर के दिखाना होगा। सिर्फ़ क़िस्से कहानी सुनाने से बात नहीं बनेगी कि क्या-क्या हुआ।)*



हिलाल : काफ़ी सारी चीज़ें कही जा चुकी हैं। मुझे नहीं लगता उन्हें दुहराने में वक़्त बरबाद करना चाहिए। जो प्रोजेक्ट हैं उसके नज़रिये से वीणा ने जो बात कहीं वे अभिन्न अंग हैं कि किस तरह से संविधान, संविधानवाद और संघवाद के परिप्रेक्ष्य में भारतीय भाषाएँ, ख़ास कर अंग्रेज़ी को देखा गया है। और उसकी पूरी कहानी इसमें है। तो हम चाहेंगे आगे की भी जो बात हो, उसमें इस पर चर्चा की जाए। अभी तक जो बात हुई उसमें मुझे लगता है दो प्रश्न हैं। थोड़ा लफंगेपन का प्रश्न है। आज का हमारा विषय है इतिहास और मैं इतिहासकार नहीं हूँ, सौभाग्यवश। तो इसलिए मैं आज पर टिका रहूँगा। जो आज है उसमें बौद्धिक वर्ग की छवि क्या है? उसमें भाषा की छवि क्या है?

जो मैं इशारा कर रहा हूँ, वह यह है। करण थापर का मशहूर इंटरव्यू है प्रधान सेवक के साथ। वे उस समय प्रधान सेवक नहीं थे, मुख्यमंत्री थे। वे भाग गये थे इंटरव्यू से। लेकिन वह इंटरव्यू काफ़ी कुछ कहता है। एक परसेप्शन यह भी है कि वे अंग्रेज़ीदाँ पत्रकार के सामने नहीं टिके। उन्होंने शुरुआत अंग्रेज़ी में की थी। मुझे वह विकल्प बहुत दिलचस्प लगता है। फिर पूरी घटना का विवरण दिया है करण थापर ने, जो बहुत दिलचस्प है कि वे बिल्कुल मधुर बने रहे उनके साथ, लेकिन जैसा उसका रिसेप्शन हुआ वह परफ़ॉर्मेंस है और वह परफ़ोर्मेंस लफ़ंगेपन की परफ़ॉर्मेंस है। तो, हमारी जो छवि है, हमारी जो भाषा है, उस पर दुबारा से इस परिप्रेक्ष्य में सोचने की ज़रूरत है। एक उदाहरण वह है जो बैदिक कह रहे थे, जो बहुत दिलचस्प लगा कि जो वर्तमान का हिंदुत्व है उसे किसी भी वैचारिक तरीक़े से सोच कर दुबारा से ऑरिएंटलिज़म पर जा कर जद्दोजहद करने में रुचि नहीं है। उसमें ख़ास क़िस्म का ढीठपन है कि मैं यह मानता था, और मैं वह मानता हूँ कि ऐसा है तो ऐसा है। इसके लिए जो भाषा है, इसमें अंग्रेज़ी–हिंदी का सवाल नहीं है। बौद्धिक वर्ग की छवि का सवाल है। व्हाट्सएप पर जो ज़ुबान दिखाई देती है, बड़ी दिलचस्प ज़ुबान है। वो न हिंग्लिश है, न हिंदी है, लेकिन उसमें एक ढीठपन है। उस पर हम मनन करें तो मुझे लगता है कि आज का जो सवाल है उस पर सोचा जा सकता है कि कैसे उसका जवाब तैयार कर सकेंगे। और जवाब तैयार करना ज़रूरी है।



प्रथमा बनर्जी : मेरी यह बात ज्योति और हिलाल की बात की अनुक्रिया में है और राकेशजी की बात की अनुक्रिया में भी है। हालाँकि मैं यह बात शुरू में बोलना चाहती थी, पर दूसरी बार मैं बोल रही हूँ कि मेरी नज़र में भाषा एक शब्दावली नहीं है। यह शब्दों का संचय नहीं है। यह भाषा की एक ग़लत समझ है। क्योंकि दुनिया के हर भाषा में सदियों से संचित शब्दों का भण्डार होता है। हर भाषा में, जिसे हम विदेशी भाषा का प्रभाव कहते हैं, वे शब्द भरे पड़े हैं। इंडिजिनेटी का तो कोई पैरामीटर है ही नहीं भाषा में और यह बात जब भाषाई नैशनलिज़म के साथ जुड़ती है तब यह सवाल उठता है कि ये सारे शब्द विदेशी शब्द हैं। तो हिंदी से अरबी, फ़ारसी हटाने की कोशिश करते हैं। बांग्ला में भी अरबी फ़ारसी हटाने की कोशिश की गयी थी। आजकल हम शुद्ध हिंदी बोलने की कोशिश करते हैं जिसमें एकदम अंग्रेज़ी का प्रयोग नहीं किया जाता है। मेरी नज़र में भाषा व्याकरण का भी पर्याय नहीं है। यह तो वाक्य–रचना का एक विन्यास है जिसमें प्रत्येक जीवंत भाषा दूसरी तमाम भाषाओं से शब्द लेकर आत्मसात् करती है, और अपने प्रयोग के दौरान अभिव्यक्त होते समय वे शब्द रूपांतरित हो जाते हैं। तो मेरे ख़याल से जब हम भारतीय भाषाओं में समाजशास्त्र या कविता करने की बात करते हैं तो सवाल दरअसल अवधारणात्मक दरिद्रता का नहीं होता। हम युरोपीय अवधारणाओं का कितना भी इस्तेमाल कर सकते हैं, लेकिन विचारों के एक भिन्न विन्यास के तहत। इसी तरह हम अपनी पुरानी परम्पराओं के तहत रचे गये उन बेहद नफ़ीस विचारों का भी इस्तेमाल कर सकते हैं जिनके साथ राकेश की बात सही है कि हमारा सम्पर्क टूटता जा रहा है। दरअसल, मैं बैदिक की इस बात से

थोड़ा असहमत हूँ कि बंकिम चंद्र प्राच्यवादी ज्ञान की देन थे। यह सही है कि वे प्राच्यवादी ज्ञान में दिलचस्पी रखते थे, पर उनकी पाद-टिप्पणियाँ देखिए वे अपनी पाठीय विविधता और परम्पराओं से चकित करती हैं। बंकिम ऐसा नहीं कर सकते थे अगर वे तरह-तरह के पाठों और भाषाई स्रोतों के जानकार नहीं होते। और विभिन्न भाषाओं के आरपार विचारों के सम्पर्क में रहना केवल आंशिक रूप से ही लिखित और साहित्यिक स्रोतों से जुड़ा है।

हमें एक समय लगता था कि हिंदी में पढ़ कर हम आसमान छू लेंगे। फिर बाद में पता चला कि हिंदी में पढ़ कर कुछ होने वाला नहीं है, न कोई हमारी बात सुनेगा। क्योंकि हमारे जो उस्ताद लोग हैं वे उस भाषा में लिखते-पढ़ते हैं, जो ग्लोबल भाषा है। फिर, उस्तादों का लिंक भी कहीं और है। उस्तादों के पास भी उनकी पूँजी नहीं है, वे कहीं और जुड़े रहते हैं। तो हमें लगा कि हम भी अंग्रेज़ी सीखें, फिर अंग्रेज़ी में जब बात लिखनी शुरू की तो पता चला इसकी जड़ें तो कहीं और हैं। यह मामला अंग्रेज़ी का भी नहीं है। तो मुझे लगा कि उसके कई स्तर हैं।

यह सिर्फ़ भाषा की बात नहीं है। वह है ही, पर विचार पर नज़र ज़्यादा डालनी चाहिए। न कि एटम की हिंदी क्या है इस सवाल पर। यह सवाल उतना बड़ा नहीं है मेरी नज़र में, उसकी हिंदी है ही, इसमें क्या शक है। एटम को अगर हम साइंस तक बाँध कर देखेंगे तो अणु और परमाणु का जो गम्भीर दार्शनिक आधार है, उसे हम भूल जाएँगे। दूसरी चीज़ मुकुल और हिलाल ने कही। मैं मानती हूँ कि जिसे आप समसामयिक इतिहास बोल रहे हैं, वह बीसवीं सदी का एक बेहतर नया इतिहास लिखने की ज़रूरत है। पिछले दो सौ सालों का इतिहास हमें दुबारा लिखना पड़ेगा नैशनलिज़म के दायरे से बाहर जा कर। एक तरह से राजनीतिक प्रासंगिकता के संकीर्ण खाँचे से बाहर जा कर लिखना पड़ेगा। लेकिन मेरा ख़ुद का विचार यह है कि गहन और दीर्घ इतिहास की रचना और समसामयिक इतिहास की रचना नये कल्पनाशील सिद्धांतीकरण की गुंजाइश खोलने के लिए ज़रूरी है। वरना इन दो-तीन सौ साल के इतिहास में हम भटकते रहेंगे और वही पुराने सूत्रीकरण बने रहेंगे। दुनिया में बहुत कुछ हो चुका है जो हमारी नज़र में नहीं आता, क्योंकि हम एक तंगनज़र ढाँचे में फँसे रहते हैं और उसे उत्तर-औपनिवेशिक वग़ैरह का नाम दे कर अपना काम चलाते रहते हैं।

हमें वास्तव में मध्ययुगीन अतीत, प्राचीन अतीत पर नज़र डालनी पड़ेगी, और एक आपस में जुड़ा हुआ इतिहास रचना होगा। तो अगर आप ईरान, भारत और तुर्किस्तान का इतिहास एक साथ देखें, तभी हमारी कल्पना की दुनिया खुलेगी जिससे हमें वह आज़ादी मिलेगी न कि, दो सौ सालों के दायरे में बँधे रहने से। ऐसा मुझे लगता है।



सतेन्द्र कुमार : मैं सभी की बात सुनते हुए यह सोच रहा था यहाँ बैठे-बैठे कि यह सेमिनार हिंदी में है या अंग्रेज़ी में। दो स्तरों पर मेरे दिमाग़ में सवाल घूम रहे हैं। एक तो यह कि क्या हिंदी बोलने से हम हिंदी के हो जाएँगे? भाषा का एक यह सवाल है, पर सार का क्या होगा, फ्रेम का क्या होगा? दूसरा सवाल यह है कि क्या अंग्रेज़ी से टकराने के बाद हमारी हिंदी-चेतना या मातृभाषाओं की चेतना उत्पन्न होती है? सवाल तो सामान्य-जन का है। एक सामान्य बुद्धिजीवी जो सोचता है, लिखता है, पढ़ता है, आलिमी इदारों में रहता है। हमारे लिए भाषा का सवाल दूसरा हो सकता है। एक सामान्य व्यक्ति है या हो सकता है, तो उसका संबंध व्यावहारिक या व्यापारिक प्रश्न से हो सकता है, और इस प्रश्न की बात लगातार आती रहती है। यहाँ कहने का मतलब नहीं है कि सामान्य-जन भाषा को आत्म के साथ नहीं जोड़ता या सृजन के साथ नहीं जोड़ता है। सवाल तो यह है कि जब हम बौद्धिक व्यक्ति के तौर

पर सोचते हैं कि हमें मातृभाषाओं में लिखना-पढ़ना चाहिए, तो क्या सामान्य व्यक्ति भी इसी तरह से सोचता है? यह सवाल कहाँ से उत्पन्न होता है। कहाँ से आता है यह सवाल। इसकी ज़रूरत क्या है? कहीं ऐसा तो नहीं कि हम जब बौद्धिक ग्लोबल दायरे में पिट जाते हैं तो हमें ख़याल आता है कि हमें भी अपनी भाषाओं में लिखना चाहिए और हमें भी अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहिए।

मुझे नहीं पता क्योंकि मैं हिंदी से आया हूँ और हम लगातार हिंदी में पढ़ते रहे हैं। हमें एक समय लगता था कि हिंदी में पढ़ कर हम आसमान छू लेंगे। फिर बाद में पता चला कि हिंदी में पढ़ कर कुछ होने वाला नहीं है, न कोई हमारी बात सुनेगा। क्योंकि हमारे जो उस्ताद लोग हैं वे उस भाषा में लिखते-पढ़ते हैं, जो ग्लोबल भाषा है। फिर, उस्तादों का लिंक भी कहीं और है। उस्तादों के पास भी उनकी पूँजी नहीं है, वे कहीं और जुड़े रहते हैं। तो हमें लगा कि हम भी अंग्रेज़ी सीखें, फिर अंग्रेज़ी में जब बात लिखनी शुरू की तो पता चला इसकी जड़ें तो कहीं और है। यह मामला अंग्रेज़ी का भी नहीं है। तो मुझे लगा कि उसके कई स्तर हैं। एक स्तर तो यह निपटने का है कि हम यह वर्कशॉप करें, हम लोग किताब लिखें जिससे शायद यह मामला सुलझ जाए। दूसरा सवाल इसका है कि जो भाषा का स्तर है, अभी मैं फ़ील्डवर्क कर रहा था तो एक सज्जन जो अंग्रेज़ी सिखाने की दूकान चलाते हैं, उन्होंने बहुत अच्छी बात कही। उनकी बात अन्य लोगों की बात से भी इत्तेफ़ाक रखती है। अंग्रेज़ी सिखाने वाले लोगों ने कहा कि हमारी संस्कृति का विनाश हो रहा है अंग्रेज़ी पढ़ने से। हमने कहा कि लेकिन आप तो पढ़ा रहे हैं। तो उन्होंने कहा कि यह मेरी रोज़ी-रोटी का मामला है। यानी की वे साफ़ जानते हैं कि रोज़ी-रोटी किससे चलती है। लेकिन साथ में यह भी कहते हैं कि संस्कृति का सवाल अलग है, सृजन का सवाल अलग है और उसे हम इस स्तर पर हल नहीं कर सकते। यह केवल प्रभु वर्ग तक पहुँचने का, सत्ता तक पहुँचने का, नौकरी पाने का माध्यम है या अपने आप को उस पूरी जमात या ग्लोबल ऑर्डर के साथ जोड़ने का मामला है। एक मामला है संस्कृति, सृजन का। यह काम हम नहीं करते और जो लोग करते हैं वह हमारी समझ में नहीं आता। यानी आप जो कह रहे हैं छवि, वह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है कि जो लोग अंग्रेज़ी लिखते-पढ़ते हैं, वे कैसे सोचते हैं। वे कैसे बात करते हैं, उनकी भाषा क्या है?

लगातार मैं यह सोचने की कोशिश कर रहा हूँ कि केवल यह कहने से कि हम हिंदी में लिखेंगे, पढ़ेंगे, शब्दावली अर्जित करेंगे— क्या यह अंग्रेज़ी का ही फ्रेम नहीं है। मुझे नहीं मालूम। मैं केवल आपके सामने सवाल रखना चाहता हूँ। या यह जो बौद्धिक क़वायद हम कर रहे हैं, उसके अलावा भी सोचने का कोई तरीक़ा है?



बैदिक भट्टाचार्य : थोड़ा स्पष्टीकरण करना चाहता हूँ, और संक्षेप में दो बातें भी कहूँगा। मेरे कहने का मतलब यह नहीं था कि बंकिम प्राच्यवाद की रचना थे। लेकिन, प्राच्यवाद बंकिम के काम में बड़े दिलचस्प तरीक़े से सामने आता है, ख़ासकर वहाँ जब वे बंगाली जाति के बारे में चर्चा करते हैं।

दूसरी बात यह है कि मेरा मतलब अमित शाह के बारे में नहीं था। उनके ऊपर तो मैं अध्ययन करने का आरोप भी नहीं लगा सकता। हाँ, सावरकर, गोलवलकर की बात करता हूँ जो इस परम्परा का लगातार हवाला देते दिखते हैं। चूँकि यहाँ हम इतिहास के प्रश्न को सम्बोधित कर रहे हैं, इसलिए कुछ मौजूद बहसों और अभिलेखागारों की चर्चा आवश्यक है। इनमें से दो का ज़िक्र मैं यहाँ संक्षेप में करूँगा। पहली बात उस संदर्भ की जिसके तहत सतीश ने समाज-विज्ञानों की शब्दावली का प्रश्न उठाया। मैंने जो सवाल उठाया था वह न तो मानविकी में फ़िट बैठता है और न ही प्राकृतिक विज्ञानों में। मैं बंगाल के इतिहास से परिचित हूँ, इसलिए वहाँ से एक उदाहरण देता हूँ। बीस और तीस के दशक में दो बड़े भौतिकशास्त्रियों मेघनाथ साहा और सतेंद्र नाथ बोस आइंस्टाइन

की रचनाओं का भारतीय भाषाओं, ख़ासकर अंग्रेज़ी में, अनुवाद करने की कोशिश कर रहे थे क्योंकि उस समय वे रचनाएँ केवल जर्मन भाषा में ही उपलब्ध थीं। इसलिए उन्होंने जर्मन सीखी और कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाओं का अनुवाद किया। कलकत्ता और नवद्वीप के संस्कृत के पण्डितों ने फ़ौरन दावा कर दिया कि अनुवाद की कोई ज़रूरत ही नहीं थी, क्योंकि ये बातें तो हमारे वेदों में पहले से ही हैं। इसमें नया क्या है। ज़ाहिर है कि बड़ी बहस छिड़ गयी और कलकत्ता विश्वविद्यालय और बंगीय साहित्य परिषद ने दो कमेटियाँ गठित कीं। इनमें एक थी परिभाषा परिषद जिसका काम तकनीकी शब्दों का अनुवाद करना था। इस पर हम सोच सकते हैं। इसकी कुछ सामग्री विश्वविद्यालय ने प्रकाशित की है जिनमें कुछ बातें एकदम नयी हैं। दूसरी कमेटी ने एक लोकप्रिय शब्दकोश भी प्रकाशित किया जिसकी रचना राजशेखर बसु ने की थी जिसका शीर्षक था *चयनिका*।

... उन्नीसवीं सदी में रमेश चंद्र दत्त और जदुनाथ सरकार से लेकर आज के दीपेश चक्रवर्ती, पार्थ चटर्जी और और रणजीत गुहा भी बांग्ला में लिखते रहे हैं। ... इसी तरह हमें इतिहास-लेखन के अनुशान में देशी भाषाओं में इतिहास-लेखन की परम्परा दिखेगी। यह ग़ैर-अकादमीय लेखन ऐसे लोगों द्वारा किया गया था जो विश्वविद्यालय प्रणाली की उपज नहीं थे। यह भी एक अभिलेखागार है जिसमें एक शब्दावली मिलेगी जिसके ज़रिये हम समकालीन आधुनिकता और समकालीन यथार्थ को अभिव्यक्त कर सकते हैं।

इन अभिलेखागारों और बहसों की हम मदद ले सकते हैं। दरअसल, शब्दावली उपलब्ध न होने की यह दुश्चिंता जो है, वह एक तरह की अकादमीय दुश्चिंता भी है। जहाँ तक बांग्ला में अकादमीय लेखन का सवाल है, वहाँ एक लम्बी परम्परा है, उन्नीसवीं सदी में रमेश चंद्र दत्त और जदुनाथ सरकार से लेकर आज के दीपेश चक्रवर्ती, पार्थ चटर्जी और और रणजीत गुहा भी बांग्ला में लिखते रहे हैं। अगर आप अंग्रेज़ी और साथ में बांग्ला पर निगाह डालें तो ये लोग एकदम अकादमीय परम्परा से जुड़े हुए हैं। इसी तरह हमें इतिहास-लेखन के अनुशासन में देशी भाषाओं में इतिहास-लेखन की परम्परा दिखेगी। यह ग़ैर-अकादमीय लेखन ऐसे लोगों द्वारा किया गया था जो विश्वविद्यालय प्रणाली की उपज नहीं थे। यह भी एक अभिलेखागार है जिसमें एक शब्दावली मिलेगी जिसके ज़रिये हम समकालीन आधुनिकता और समकालीन यथार्थ को अभिव्यक्त कर सकते हैं। मैं इस अभिलेखागार को रेखांकित करना चाहता हूँ।

एक दूसरा अभिलेखागार भी है। वीणा यहाँ ज़िक्र कर चुकी हैं कि हम भाषा को कैसे समझते हैं, जब वह शासकीयता के दायरे में औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक ज़मानों में पहुँचती है। अगर कोई बेहद महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है जिसका कुछ अध्ययन किया गया है, तो वह है ग्रियर्सन का *लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया*। हाल में पिछले साल जावेद मज़ीद ने दो खण्डों में इसका अध्ययन किया है जिसमें न केवल प्रकाशित रचना को लिया गया है बल्कि उससे जुड़ी अभिलेखागारीय सामग्री, विचार-विमर्श, पत्र-व्यवहार और सरकारी टिप्पणियों को भी लिया गया है। इस दस्तावेज़ और उसके अध्ययन की मदद से हम समझ सकते हैं कि भाषा का प्रश्न सरकारों, राज्य और उसकी गतिविधियों में किस तरह प्रवेश करता है।

ग्रियर्सन के सर्वे का महत्त्व कितना है, इसका पता एक हास्यजनक संस्मरण से लगता है। नब्बे के दशक में पश्चिम बंगाल के उत्तरी हिस्से में राजबंसियों ने कांतापुर नामक अलग राज्य की माँग इस दावे के साथ की कि उनकी भाषा बांग्ला से अलग भाषा है। कलकत्ता के बुद्धिजीवियों ने फ़ौरन कहना शुरू कर दिया कि नहीं, नहीं, वह तो बांग्ला की ही एक उपभाषा है। बस फ़र्क़ यह है कि राजबंसी कलकत्ता की मानक बांग्ला नहीं बोलते हैं। तब तक किसी ने बताया कि ग्रियर्सन ने राजबंसी को अलग भाषा क़रार दिया है। यह कहते ही हुआ यह कि ग्रियर्सन को निमंत्रित करने की माँग उठ गयी ताकि उन्हें अपने पक्ष में किया

जा सके, जबकि उनका तो 1940 में ही देहांत हो चुका था। कहने का मतलब यह है कि भाषा और शब्दावली के प्रश्न पर सोचते समय हमें इस तरह की अभिलेखागारीय सामग्री पर ध्यान देना चाहिए।



कंचन शर्मा : यहाँ ज़िक्र आया है आत्म के हनन या आत्म के साथ छेड़खानी का। जब हम आत्म की निर्मिति की बात करते हैं तो तीन पहलू ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। आत्म की निर्मिति भाषा से बनती है, आत्म की निर्मिति समाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान होती है और संबंधों के रूप से बनती है। इन तीनों आयामों में अगर हमारे साथ कहीं छेड़खानी हुई है तो हम मान सकते हैं कि हमारे आत्म में बदलाव करने की कोशिश की गयी है।

मैं शिक्षा विभाग से जुड़ी हुई हूँ। हर पहलू को शिक्षा के दायरे में और संबंधों के दायरे में ले जा कर समझने की कोशिश करती हूँ। इतिहास में ऐसा बहुत ज़िक्र है जिसमें बताया गया है कि भारतीय भाषाओं को मारने के लिए क्या-क्या षड्यंत्र रचे गये। उनकी सहायक निधि बंद की गयी, उनके संस्थानों को मदद बंद की गयी। वग़ैरह-वग़ैरह। संबंधों में भी इस दौरान बहुत बदलाव आया। अंग्रेज़ीकरण या ब्रिटिश नैतिकता के मूल्यों को परिवारों ने बहुत ग्रहण किया। आभिजात्य परिवारों ने ग्रहण किया, जो संख्या में भले कम थे, पर थे महत्त्वपूर्ण— दूसरे आम जनों को अपनी जीवन शैली से प्रभावित करने के मामले में। इसका ज़िक्र आशिस नंदी जी ने भी किया है अपनी पुस्तक में। उन्होंने अच्छी तरह से बताया है कि कैसे परिवार, माता-पिता के साथ बालक का संबंध, उस संबंधों की दूरी और निकटता कैसे बदलती है। स्कूल से बच्चे का संबंध कैसे बदलता है। शिक्षक और छात्र के संबंधों में क्या बदलाव आता है, अनुशासन और दण्ड के पहलू पर शिक्षक और छात्र कैसे बदल जाते हैं। ये सारे संबंध बदल रहे हैं उस दौर में, इसका ज़िक्र भी हमें हमारे इतिहास में मिलता है।

तीसरा, जब मैं बात करती हूँ समाजीकरण के पहलू पर, तो उस पहलू पर भी अंग्रेज़ी या अंग्रेज़ियत ने हमें प्रभावित किया था। पूरे समाज को नहीं, तो समाज के उस आभिजात्य वर्ग को अवश्य किया जो दूसरों को प्रभावित करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। इन तीनों आयामों पर की गयी छेड़खानी ने आत्म को ज़रूर प्रभावित किया है या उसे मारा है।

दूसरा, जब मैं एक स्कॉलर के नाते बात करती हूँ तो हमें एक निश्चित ढाँचे में ही रह कर काम करना होता है, लिखना होता है, संदर्भ देने होते हैं। यदि यह नहीं होगा तो कोई पेपर या शोध अच्छा नहीं माना जाएगा, प्रकाशित नहीं होगा। और तो और, जब तक लेख में आठ-दस अंग्रेज़ी के संदर्भ शामिल नहीं होंगे, उसकी श्रेष्ठता पर सवाल बना रहेगा। एक स्कॉलर अभी इसी स्तर पर जूझ रहा है तो इससे आगे जा कर अपनी भाषा में सोचने, समाज-विज्ञान रचने की तो मैं कल्पना भी नहीं कर पाती। क्योंकि उस स्तर पर तो अभी मेरी लड़ाई शुरू ही नहीं हुई है।



सतीश देशपाण्डे : एक बात तो शायद हमारी चर्चा में निहित है, पर उसे ज़्यादा स्पष्टता से कहने की आवश्यकता है। वह है कि जब हम भाषाई बहुलता की बात करते हैं तो वह केवल एक से ज़्यादा भाषाओं की उपस्थिति नहीं है, बल्कि जिस भाषा को हम अंग्रेज़ी की संज्ञा देते हैं वह ख़ुद बहुल है। वह एक नहीं है। यह हर भाषा पर लागू होता है। इसलिए हर भाषा जो सामाजिक रूप से महत्त्वपूर्ण है, उसके कई अवतार होंगे। उसकी चर्चा हम एक वचन में नहीं कर सकते। यह याद रखा जाए। यह ख़ास कर अंग्रेज़ी पर लागू होता है, क्योंकि बहुत तरह की अंग्रेज़ियाँ हैं यहाँ पर। जिनके अलग-अलग प्रकार हैं। उनका सामाजिक इतिहास अलग-अलग है।

वापस हम इसी पर आते हैं कि समाज-विज्ञान को लेकर बहुत बातें हुई हैं। मैं यह नहीं कह रहा

था कि हमारे पास प्रत्ययों की कमी है, या शब्दावली की कमी है। मुझे तो लगता है कि अगर शब्द है, पद है और उसे व्यवहार में लाया जाता है, तो भी समस्या रहती है। मुकुलजी ने बहुत सुंदर शब्द का प्रयोग किया बरतना। इसका कोई सही सटीक अंग्रेज़ी पर्याय मुझे सूझ नहीं रहा है। ख़ासकर समाज-विज्ञान में भी प्रत्ययों को बरतना पड़ता है और उस बरतने की संस्कृति, उस बरतने का समाज हमारे यहाँ नहीं बना है। मेरा कहना वह है। और यह हर तरह के समाज-विज्ञान पर लागू होता है। आपके पास कोई किट बना-बनाया मौजूद हो, यह नहीं होता। मेरे ख़याल से राकेश भी यह बात मानेंगे। जो किट बनती है, उपयोग से बनती है, बरतने से बनती है। एक तरह से उस समाज को बनाने से बनती है जहाँ इसकी दरकार होती है। वह हम नहीं बना पाए हैं। जबकि कम से कम सतही तौर पर यह लगता है कि समाज-विज्ञान जैसे विषय के स्तर पर जो भाषा-निरपेक्ष, संस्कृति-निरपेक्ष नहीं है, उसके लिए भाषाई-समीपता का फ़ायदा होना चाहिए। और वह फ़ायदा हमें नहीं हो रहा है। क्यों नहीं हो रहा इसके बारे में हमें सोचना ज़रूरी है। तो समाज-विज्ञान पहले से बनाई गयी चीज़ नहीं है। उसकी तो माँग समाज में उठनी चाहिए। इसकी ज़रूरत हमें महसूस होनी चाहिए, वह क्यों नहीं हो रही है? जो सबसे पहला काम होता है, ज्ञान-निर्माण का किसी भी भाषा में वह है इस माँग को पैदा करना। कहीं भी कोई भी प्रत्यय बना-बनाया नहीं होता, वह सीधे-सीधे नहीं उतरता, जब तक सामाजिक घर्षण नहीं होगा तो यह नहीं हो पाएगा। इस शर्त को हमें हमेशा ध्यान रखना चाहिए।

आत्म की निर्मिति भाषा से बनती है, आत्म की निर्मिति समाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान होती और संबंधों के रूप से बनती है। इन तीनों आयामों में अगर हमारे साथ कहीं छेड़खानी हुई है तो हम मान सकते हैं कि हमारे आत्म में बदलाव करने की कोशिश की गयी है। ... हमें एक निश्चित ढाँचे में ही रह कर काम करना होता है, लिखना होता है, संदर्भ देने होते हैं। ... और तो और, जब तक लेख में आठ-दस अंग्रेज़ी के संदर्भ शामिल नहीं होंगे, उसकी श्रेष्ठता पर सवाल बना रहेगा। ... तो इससे आगे जा कर अपनी भाषा में सोचने, समाज-विज्ञान रचने की तो मैं कल्पना भी नहीं कर पाती।



राजकुमार : देखिए, दो चीज़ें हैं और उन पर थोड़ा अलग से हमें फ़ोकस करना चाहिए। एक तो यह प्रश्न है कि ख़ासतौर से उन्नीसवीं सदी या उससे थोड़ा पहले हमारी भाषाओं की अस्मिता कैसे बनती हैं। वीणा ने महाराष्ट्र के बारे में या पश्चिमी भारत की भाषाओं के बारे में यह काम कर दिया होगा, पर ज़्यादातर भाषाओं के बारे में अभी यह काम ठीक से नहीं हुआ है। हिंदी के बारे में मैं ज़्यादा विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि हिंदी की अस्मिता कैसे बनी— इस बारे में हम लोग अभी ज़्यादा गहन अध्ययन नहीं कर पाए हैं। तो ज़रूरत है कि इसे हम जानें और समझें— इस पर अध्ययन व शोध हो। यह काम साहित्यकारों से अच्छा समाज-वैज्ञानिक कर सकते हैं कि हमारी भाषाएँ कैसे बनीं। प्रथमा ने बहुत अच्छा ज़िक्र किया कि भाषाओं का फ़ॉरमेशन कैसे हुआ, उसे देखा जाए। यह बात सही है कि यह बंगाल के लिए ही नहीं, पूरे उत्तर भारत के लिए भी है कि हिंदी का अपनी तमाम तथाकथित डायलेक्ट्स से क्या संबंध है, उर्दू से क्या संबंध है, इस पर ग्रियर्सन ने या उन जैसे तत्कालीन विद्वानों ने क्या कहा था, उसी से हम आज तक अपना काम चला रहे हैं।

यह तो बहुत बुनियादी चीज़ है कि जो भाषा-परिवारों का बँटवारा है, इसकी बुनियाद ग्रियर्सन ने रखी शायद। राधावल्लभजी यहाँ बैठे हैं तो मुझे लगा कि मैं ये जिज्ञासा करूँ। तो हम उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श की बहुत बात करते हैं पर भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भाषा-परिवारों का जो विभाजन

है उस पर कोई गम्भीर कार्य हुआ ही नहीं है। मेरी जानकारी के हिसाब से अभी भी युनिवर्सिटी में वही चीज़ें पढ़ाते हैं, जो उस ज़माने में तैयार हुई थी। यह बहुत बुनियादी चीज़ है जिस पर काम होना चाहिए था, पर नहीं हुआ है। तो एक क्षेत्र यह है जिस पर मुझे लगता है कि बहुत ज़्यादा बुनियादी काम करने की ज़रूरत है। कुछ क्षेत्र में अलग स्थितियाँ होंगी, पर ज़्यादातर क्षेत्रों में अभी भी बहुत काम करने की ज़रूरत है। दूसरी चीज़, राकेश जो कह रहे थे उसके बारे में दो चीज़ें मेरे दिमाग़ में आती हैं। एक तो यह कि जो मध्यकाल है उसमें कहा जाता है कि देशी भाषाएँ साहित्य की पढ़ाई-लिखाई की भाषाएँ बनीं। लेकिन यह भी कहा जाता है और इसके साक्ष्य भी हैं कि साहित्य तो वर्नाकुलर या देश-भाषाओं में लिखा जाने लगा पर जिसे आप ज्ञान-विज्ञान या दर्शन कहते हैं उसकी भाषा संस्कृत ही बनी रही। यानी अंग्रेज़ी शासन क़ायम होने के पहले तक। तो एक यह विभाजन बना, जिसमें साहित्य तो क्षेत्रीय भाषाओं में लिखा जाता है लेकिन दर्शन, ज्ञान, विज्ञान संस्कृत में चल रहा है। लेकिन बाद में उन्नीसवीं सदी में जो स्थिति बनती है, उसमें अलग-अलग क्षेत्रों की भाषाएँ सभी विषयों और अनुशासनों को अपने दायरे में लाने की कोशिश करती हैं। तो, सम्भवतः एक समस्या या चुनौती यह भी थी कि उन भाषाओं में अभी भी शासकीय, विज्ञान या दर्शन की शब्दावली की कोशिश हुई थी। विज्ञान या दर्शन को हिंदी में लिखने की कोशिश की गयी, यहाँ तक कि गणित को भी लिखने की कोशिश की गयी। अब वह चीज़ आगे नहीं बढ़ी, वह दूसरी समस्या है। लेकिन ऐसा नहीं है कि प्रारम्भ में ही लोगों ने हथियार डाल दिये हों कि यह सम्भव ही नहीं है, और यह तो अंग्रेज़ी में ही हो सकता है।

आज के समाज-विज्ञान के संदर्भ में अगर आप भाषा की बात करते हैं तो दो तरीक़े से सोचना चाहिए। एक यह कि अंग्रेज़ी का रोल है, महत्त्वपूर्ण है। अंग्रेज़ी एक तरह से चालक-शक्ति के रूप में काम करती है। यहीं देखना चाहिए कि जो क्षेत्रीय भाषाएँ हैं, उनमें उत्पादित ज्ञान की क्या भूमिका हो सकती है। दूसरा, भाषा-परम्परा में संस्कृत भाषा, फ़ारसी भाषा इत्यादि में जो ज्ञान की परम्परा रही है, उसमें क्या कुछ ऐसा है जो समाज-विज्ञान के व्यवहार को, जो आप बरतते हैं, उसमें बदलाव लाया जा सकता है। अगर आप यह नहीं सोचते तो बहुत ज़्यादा चिंता करने की ज़रूरत नहीं है। फिर तो जो हो रहा है, होता रहेगा। लेकिन एक बुनियादी सवाल यह है कि समाज-विज्ञान, जैसे हम बरत रहे हैं, उसमें हम बदलाव की ज़रूरत महसूस करते हैं कि नहीं। दूसरा, भाषा ज्ञान-निर्माण की परम्परा में अगर कुछ काम का है— तो उस पर विचार करना चाहिए।



श्रीश चौधरी : एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जो कोई भी भाषा-वैज्ञानिक आपसे पूछेगा। ऐसा क्यों है कि कोई और विदेशी भाषा, कोई भी ऐसी भाषा जो मातृभाषा नहीं है, क्या दुनिया में या भारत में इतनी तेज़ी से, जितने लोगों और इतने प्रभावी तरीक़े से फैली है जितनी तेज़ी से और कम समय में अंग्रेज़ी फैली है। इसके दो कारण हैं? एक तो है फ़ौजी या साम्राज्यवादी विस्तार का कारण। 1603 के ब्रिटिश में और 1947 के ब्रिटिश में बड़ा अंतर था। जहाँ-जहाँ वे गये, अपनी भाषा ले गये। लेकिन, यहाँ प्रश्न यह है कि यह विस्तार फ़ारसी क्यों नहीं कर पाया। समुद्रगुप्त के समय में संस्कृत यह उपलब्धि क्यों नहीं हासिल कर पायी। फ़ारसी कोई कमतर भाषा नहीं थी। अगर पदावली, संरचना, साहित्य की परम्परा, व्याकरण, कोस्मोलॅजी, बीजगणित इत्यादि को देखें तो अंग्रेज़ी उसके मुक़ाबले कहीं नहीं ठहरती। इस लिहाज़ से अंग्रेज़ी तो एक नयी युवा और विकसित होती हुई भाषा है। आज जैसे कोई हमारे गाँव में एमपी, एमएलए बन कर, नया धनी बन कर नया कल्चर दिल्ली वालों का ले जाता है, तो बिना पनीर के खाना नहीं खाता है। अंग्रेज़ी का कल्चर उसी तरह का कल्चर है। लेकिन एक और बात है। अंग्रेज़ी को प्रौद्योगिकी का भी सहारा मिला है। किताब लिखने की परम्परा मुसलमानों में तब से थी जब से इस्लाम आया, लेकिन प्रिंटिंग प्रेस को उन्होंने चलने ही नहीं दिया। पहली किताब *क़ुरान* की छपी हुई

प्रति लखनऊ से 1854 में निकली, जगन्नाथ सहाय के प्रेस से। आप कल्पना कर सकते हैं। संस्कृत, फ़ारसी, प्राकृत के व्याकरण लिखे गये थे, लिखे जा चुके थे, लेकिन इनके व्याकरण पर व लिखने पर ईर्ष्यावश इतना दबाव था कि ऐसा लिखोगे, इस तरह का लिखोगे तभी शुद्ध होगा वरना शुद्ध नहीं है। अंग्रेज़ी की डिक्शनरी इंग्लैंड में बाद में आयी, पहले भारत में बन गयी। हॉब्सन जोब्सन आयी है 1984 में और ऑक्सफ़र्ड का पूरा वॉल्यूम आया है 1916 में। उसकी शुरुआत ही हुई है उसके बाद। टेलीग्राम, रेलवे आदि पर एक किताब है, जेएनयू के एक स्कॉलर हैं दीपक कुमार कि प्रौद्योगिकी की वजह से ब्रिटिश राज को किस तरह बल मिला, और भाषा को उसने किस तरह से प्रभावित किया। यह सच है ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन बाद में जब कलकत्ता से बढ़ कर पूना तक मद्रास तक और कोलम्बो से ल्हासा तक चला गया तो उन्हें अपनी सिविल सर्विस में अंग्रेज़ी जानने वाला चाहिए थे। क्योंकि उन पर कम पैसा ख़र्च हो रहा था। ऐसी बात नहीं कि वे भारतवासियों के प्रति कोई उदार थे। वे तो भारतवासियों को कम तनख़्वाह देते थे। उनको जहाँ पाँच पाउंड सालाना देते वहीं अंग्रेज़ों को साठ पाउंड देते थे। बारह गुना का अंतर था। यह एक भद्दा अंतर था। लेकिन, ध्यान रखने की बात यह है कि कोई भी सामाजिक शक्ति, कोई भी सामाजिक परम्परा या भाषा तब तक जड़ नहीं पकड़ती जब तक लोग उसे स्वयं ग्रहण न करें। वह केवल क़ानून बनाने से जड़ नहीं पकड़ती।

मैंने यहाँ एक प्रिंट-शीट बाँटने का अनुरोध किया है जिसमें मैंने अंग्रेज़ी के विकास से संबंधित प्रमुख मुक़ामों को दर्शाया है। सुरेंद्र प्रसाद सिन्हा एक रेलवे अधिकारी थे जिन्होंने भारत में अंग्रेज़ी के इतिहास पर पहली किताब लिखी। मैंने या प्रबाल ने नहीं। प्रबाल से भी पहले 1978 में सुरेंद्र सिन्हा ने अंग्रेज़ी के इतिहास पर पहली किताब लिखी जिसे पटना के एक साधारण प्रकाशक ने दोबारा छापा। इसका शीर्षक था *ट्राइम्फ़ेंड मार्च ऑफ़ इंग्लिश*। यह कोई अंग्रेज़ों की सरकार द्वारा सम्पादित किताब नहीं थी। दरअसल, अंग्रेज़ों की सरकार तो स्कूल और कॉलेजों में अंग्रेज़ी के इस्तेमाल के पक्ष में नहीं थी। गाँधीजी जब स्कूल गये तो पूरी बोंबे प्रेसीडेंसी में केवल 14 स्कूल थे ...। चूँकि अंग्रेज़ अंग्रेज़ी जानने वाले सिविल सर्वेंट चाहते थे, इसलिए बिना अंग्रेज़ी के मैट्रिक करना नामुमकिन था। राधावल्लभजी आप अपवाद होंगे कि अंग्रेज़ी जाने बिना आप उपकुलपति हो गये। यहाँ तो अंग्रेज़ी जान कर भी प्रोफ़ेसर बनना मुश्किल है। ऐसे हमारे यहाँ भी एक-दो अपवाद हुए हैं। स्थिति यह है कि कोई विकल्प ही नहीं है। अंग्रेज़ी है और प्रौद्योगिकी है। अंग्रेज़ी सीखिए, रोज़ी कमाइए, मुख्यधारा के हिस्से बनिए। वरना आपके लिए दूसरी जगहें हैं। मैं ऐसी जगह से आता हूँ जहाँ मिथिला में संस्कृत स्कूल सबसे बड़ी संख्या में हैं। मिथिला भारत और नेपाल के बीच बँटा हुआ है। मैं मिथिला के भारत वाले हिस्से का हूँ। लेकिन संस्कृत अब अर्थकारी विद्या नहीं रह गयी है। जिनसे आपको आमदनी हो, वैसी विद्याएँ अंग्रेज़ी के ज़रिये मिलती हैं। ये दोनों चीज़ें मिल कर भारतवासियों को साथ में लाती हैं। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जब उभार हुआ, तब तक एक करोड़ लोग अंग्रेज़ी लिखने का दावा करने की स्थिति में थे। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। चिपलूणकर ने कहा था कि भारत के लिए अंग्रेज़ी शेरनी का दूध है। हो सकता है थोड़ा बढ़ा-चढ़ा के बोला हो। राममोहन राय ने कहा था कि भारत अंग्रेज़ी बोलने वाला देश बन जाएगा। गाँधीजी इस पर हँसे थे। आज की स्थिति देख लीजिए। अब तो देवनागरी लिपि को ख़तरा है। गाँव में मोबाइल में मैसेज लिखते थे या हैं, वहाँ विकल्प है, हर फ़ोन में देवनागरी का विकल्प है, पर लिखते नहीं हैं। आप में से ईमानदारी से बताइए कितने लोग रोमन के अलावा किसी और स्क्रिप्ट में लिखते हैं। ख़तरा तो हिंदी से भी ज़्यादा है। जब आप कहते हैं कि झारखण्ड की भाषा भी हिंदी है, बिहार की भाषा भी हिंदी है, तो संथाली, मैथिली आदि कहाँ हैं ? आप तो उनमें स्कूल की शिक्षा भी नहीं होने देते। मैं अपने गाँव के स्कूल में एक शिक्षक के तौर पर पढ़ाता हूँ, मैं जानता हूँ वहाँ कुछ करने के लिए जब दिल्ली से आदेश आएगा तब बदलेगा। माफ़ करना, इतना केंद्रीकरण तो अंग्रेज़ों के जमाने में भी भारत में नहीं था।